UNIVERSAL LIBRARY
OU_180628
UNIVERSAL LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H82 M67 Vi Accession No. G.H 2994

Author मिश्र, लक्ष्मीनारायण

Title वितस्ता की लहरें 1951

This book should be returned on or before the date last marked below.

वितस्ता की लहरें

संस्कृति प्रधान ऐतिहासिक नाटक

लेखक

पं० लक्ष्मीनारायण मिश्र

'सिन्दूर की होली', 'आधी रात', 'मुक्ति का रहस्य', 'राजयोग', 'नारद की वीणा',' गरुड़ध्वज', 'वत्सराज', 'दशाश्वमेध' आदि नाटकों के रचयिता ।

आत्माराम एण्ड संस

काश्मीरी गेट, दिल्ली

COPYRIGHT © BY ATMA RAM & SONS, DELHI-6

प्रकाशक

रामलाल पुरी, संचालक

आत्माराम एण्ड संस

काश्मीरी गेट, दिल्ली-६

तृतीय संस्करण : १ ९ ५ ९

मुद्रक : मूवीज़ प्रस, दिल्ली-६

कथा संकेत

इस भूमि पर विदेशियों के अनेक आक्रमणों की सूचना पुराणों में मिलती है। यूनानी और दूसरे विदेशी इतिहास लेखक इन आक्रमणों के सम्बन्ध में जो कुछ अपने दृष्टिकोण से लिख गये हैं उन पर विचार पुराणों के वाक्यों को सामने रखकर किया जा सकता है। मकदूनिया के सिकन्दर ने इस पर जो आक्रमण किया था उसकी कोई भी सूचना हमें अपने पुराणों से नहीं मिलती जैसे वह आक्रमण इस देश के इतिहास-साहित्य में स्वीकार ही नहीं किया गया। हमारे राष्ट्रशरीर पर उसका घाव सम्भवतः गहरा नहीं हुआ, खरोंच की तरह वह लगा और बिना किसी टिकाऊ प्रभाव के मिट भी गया। यूनानी इतिहासकारों ने सिकन्दर की विजय का जो कुछ लेखा-जोखा दिया उसी के आधार पर वितस्ता के तट पर उसकी विजय की बात हम भी मानने लगे हैं। इस नाटक का आधार वितस्ता के तट पर यवन सेना का पहुँचना, चोरी से वितस्ता पार करना और केकयवीर पुरु के साथ उसका युद्ध है।

सिकन्दर के पहले यूनान का मानचित्र नगर राज्यों में चित्रित है। मेधावी अरिस्तातल की प्रेरणा में कदाचित् पारसीक साम्राज्य के अनुकरण पर सिकन्दर के बाप फिलिप ने अपने देश के नगर राज्यों का ध्वंस किया था। पेरिक्लिज़ का गौरवपूर्ण एथेन्स फिलिप की बर्बर ठोकरों में भूमिसात् हो चुका था। तरुण सिकन्दर के भीतर विश्वविजय की लालसा बाप फिलिप और गुरु अरिस्तातल के उद्बोधन में जगी थी। इतिहास में सिकन्दर को महान् कहा गया है। विजयी यवन की यह महानता इसके पहले की संस्कृतियों के ध्वंस में ही दिखाई पड़ती है। पारस में यवन सेना ने जो क्रूर और विध्वंसक कार्य किये, जिनका उल्लेख यवन इतिहासकारों ने जातीय विजय और दर्प के रूप में किया, वे विजयी यवन को ध्वंस और संहार में चाहे कितना महान बना दें संस्कार

श्रौर सर्जन में उसकी हीनता को छिपा भी नहीं पाते ।

संसार की सभी समुन्नत संस्कृतियों की प्रायः एक ही कहानी है। जो संस्कृति अपने उत्कर्ष में बहुत आगे बढ़ी; कला, कौशल, साहित्य और दर्शन-चिन्तन में जिस देश या जाति ने अधिक उन्नति की वह अपने उत्कर्ष के मार्ग में ह्रास के बीज भी बोती गई। समुन्नत संस्कृतियों का अन्त बराबर अर्द्धसभ्य या बर्बर जातियों से होता रहा। पारस और मिश्र या वितस्ता के तट तक जितनी जातियाँ पड़ीं उन सबका ध्वंस विजयी यवन के सैनिकों ने किया। बाद में यूनानी संस्कृति और रोमन संस्कृति के विनाश करनेवाले भी अर्द्धसभ्य और बर्बर लोग थे। पुराने सुमेरु की असुर संस्कृति की समकालीन अन्य विकसित संस्कृतियों का अन्त भी सम्भवतः इसी रूप में हुआ था। इस देश ने अपनी आँखों इन सभी संस्कृतियों को उठते और गिरते देखा और बराबर प्रलय के भीतर से अपना नया निर्माण करता रहा। आज की यूनानी संस्कृति न तो पेरिक्लिज़ की है न सिकन्दर मैसेडन की। पर हमारी संस्कृति की यात्रा में तक्षशिला के आचार्यों और स्नातकों के, पुरु और विष्णुगुप्त के चरण चिन्ह अभी नहीं मिटे। अनेक आघातों के बाद भी भारतीय संस्कृति अपनी पुरानी जड़ों से रस लेती चली आ रही है। इतिहास के किनारों पर जहाँ दूसरी प्राचीन संस्कृतियों के ध्वंस-चिन्ह छितराये पड़े हैं और उन्हें अपना कहनेवाला आज कोई नहीं है ऐसी दशा इतनी लम्बी अवधि में हमारी नहीं हुई। हर ध्वंस की नींव पर यह देश नया निर्माण करता रहा है; इस नाटक की रचना में प्रधान प्रेरणा यही रही है।

अलिकसुन्दर और पुरु के युद्ध के अन्त में पुरु के साथ जिस व्यवहार का उल्लेख यवन इतिहासकारों ने किया है उससे यह पता चलता है कि अपने प्रतिद्वन्द्वी को जीवन-दान के साथ-ही-साथ उसका राज्य भी लौटाकर विजयी यवन ने आदर्श शील-सम्पत्ति का परिचय दिया। पर यह बात उसके उस आचरण से सिद्ध नहीं होती जिसका दर्शन हमें यवन देश से सिन्धु के किनारे तक होता है। पारस भूमि में

जिस छल और कपट से उसने काम लिया, संहार और प्रतिहिंसा का जो भीषण रूप उसने दिखाया, मानवता के किसी भी गुण का लेश भी उसमें नहीं मिलता। पारसपुर, सूषा और एकबताना के प्रासादों और मन्दिरों में जो आग उसने लगाई वह महीनों तक जलती रही। यवन सैनिकों के हथौड़े कला-कृतियों पर चलते रहे, दारयवहु की कन्याओं और रमणियों का हरण किया गया और वे सैनिकों में बाँट दी गईं, फिर पुरु के साथ सद्व्यवहार का कारण कुछ दूसरा ही था। विजयी यवन ने निषद की तलेटी तक जिस मानवता को देखा था उससे कहीं अधिक भिन्न मनुष्य उसे इधर क्रमशः मिलते गये। निषद से पूर्व वह ज्यों-ज्यों बढ़ता गया उसकी आँखें खुलती गईं। उसने देखा इधर के नर और नारी कुछ ऐसी धातु के बने थे जिसका अनुभव उसे पारसीक साम्राज्य में नहीं हुआ था। तक्षशिला के आचार्य और स्नातक देश-धर्म की रक्षा में त्याग और संकल्प का जो रूप लेकर इसके सामने आये वह उसने कहीं नहीं देखा था, न तो अपने यवन देश में, न उन देशों में जिन्हें उसने जीता था। पारस के विभव का अपहरण कर जो वह अपने को देवता समझने लगा था, अपने सैनिकों से पूजित होने की प्रवृत्ति जो उसके भीतर जाग उठी थी वितस्ता तक पहुँचते-पहुँचते वह मिट गई। यवन देव और देवियों की वह प्रार्थना करने लगा जिन्हें पारसपुर पहुँचते-पहुँचते वह भूल चुका था या जिनकी कोटि में वह स्वयं अपने को रख चुका था। रात चोरी से वितस्ता पार कर लेने पर भी पुरु और उसकी सेना के विक्रम से वह विस्मित और विमूढ़ हो गया। किन परिस्थितियों में यह सब सम्भव हो सका, इतिहास और कल्पना के समन्वय में उन परिस्थितियों का संधान इस नाटक में किया गया है।

वितस्ता के तट पर दो विभिन्न जातियों और संस्कृतियों की टक्कर हुई थी जो अपने विधि-विधान और जीवन-दर्शन में एक दूसरी के विपरीत थीं। यवन सैनिकों में विजय का उन्माद था तो पुरु और केकय जनपद के नागरिकों में देश के धर्म और पूर्वजों के आचरण की रक्षा का भार।

दोनों ने एक दूसरी को जाना और समझा और बहुत अंशों में बैर और द्रोह मिटाकर शील और सहयोग के बढ़ने का अवसर दिया गया। अपनी ओर से मैं बस इतना कहूँगा कि इस नाटक के लिखने में जातीय मोह या देश के गौरव के प्रति मेरा आग्रह नहीं रहा। नाटक लिखते समय सारे व्यापार जैसे मैं अपनी आँखों से देखता रहा और संवाद सुनता रहा हूँ। वितस्ता की लहरों ने क्या देखा कौन जाने? कम-से-कम नई मानवता का जन्म तो वितस्ता की लहरें तब देखती रहीं जिसका आग्रह यवन विजयी की प्रेयसी ताया के शब्दों में नाटक के अन्त में आ गया है—

"कुछ ऐसा हो कि मानवता के घाव पर शीतल विलेपन लगे और वितस्ता की लहरों में अनुराग का जल हो।"

विजयदशमी
प्रयाग, सं० २०१०

लक्ष्मीनारायण मिश्र

पात्र-परिचय

पुरुष पात्र

विष्णुगुप्त	तक्षशिला के आचार्य
पुरु	केकय नरेश
आम्भी	तक्षशिला नरेश
रुद्रदत्त	पुरु का पुत्र
भद्रबाहु	आम्भी का पुत्र
शशिगुप्त	निषद के राजा, अलिकसुन्दर का सहायक
अलिकसुन्दर	यवन विजयी
सिल्यूकस, नियरकश, टिथोनस	यवन सेनापति
अश्वकर्ण, हयग्रीव	पुरु के सैनिक

स्त्री पात्र

रोहिणी	केकय राजवधू
तारा, रजनी	पारसनरेश दारयवहु की कन्याएँ
ताया	अलिकसुन्दर की प्रेयसी
वसन्तसेना	प्रतिहारी

वितस्ता की लहरें

पहला अंक

[पुरु केकय का राजभवन। भवन के सामने वितस्ता के तट तक फैला उद्यान। छोटे-बड़े विभिन्न पेड़ों और लता गुल्मों के कारण उद्यान वन का रूप धारण कर रहा है। पश्चिम नदी की ओर पक्षियों और नाविकों की बोली रह-रहकर सुनाई पड़ती है। भवन के ठीक बीच से राजपथ इस वन को दो भागों में बाँट रहा है। संध्या में थोड़ी देर है। सूर्यपिण्ड पश्चिम क्षितिज के ऊपर जैसे दिन भर की थकान मिटाने के लिए टिक गया है। आगे सिंहद्वार के दोनों ओर दो प्रहरी दायें हाथ में लम्बे चमकीले भल्ल लिए दीवार और खम्भों के सहारे खड़े हैं। यवनी प्रतिहारी वसन्तसेना प्रासाद वितान पर आकर खड़ी होती है।]

वसन्तसेना—हे ! युवराज किस यान से गये ? सुन रहे हो ?

[दोनों प्रहरी उत्सुक होकर उसकी ओर देखते हैं]

नेपथ्य में नारीकण्ठ—कोई नहीं बोलता ? क्या नाम हैं इन दोनों के ?

वसन्तसेना—अश्वकर्ण और हयग्रीव···

नेपथ्य में नारीकण्ठ—तभी दोनों पशु हैं। बोलते नहीं, आँखों की डोर में बाँधकर तुझे इस प्रासाद वितान से खींच लेना चाहते हैं।

वसन्तसेना—बाप रे ! उतने नीचे ? तब तो रूई-सी धुन उठूंगी ?

नेपथ्य में नारीकण्ठ—आँखों से खींचकर लोग आँखों में समा जाते हैं। रूई-से धुन नहीं उठते !

वसन्तसेना—एक की आँखों तक तो भला······सब के लिए होता है, मेरे लिए, आपके लिए, हमारी इस आयु की किसी किशोरी के

लिए, पर एक साथ दो-दो की आँखों में···ऐं राजकुमारी ! आप मुँह फेरकर आँचल से आँसू पोंछ रही हैं और परिहास भी कर रही हैं। दोनों एक साथ···(**दुःख का स्वर**)।

नेपथ्य में नारीकण्ठ—(**भरे कण्ठ से**) नीचे चली जा। पूछ इन दोनों से। किस यान से गये वे ?

वसन्तसेना—(**नीचे उतरती हुई**) तो इसमें डर क्या है ? कौन छू सकेगा उनका एक बाल भी। महाराज पुरु की छाया में उनके पुत्र को भर आँख देखने का साहस किसे होगा ? (**बाहर निकलकर सिंहद्वार तक पहुँचती है**)।

अश्वकर्ण—कहो यवनी ! इस धूप में कहाँ भागी जा रही हो ? दो घड़ी में रात आ जायगी। तुम्हारे निकलने का समय तब होगा।

वसन्तसेना—अरे ! चुप रहो। राजवधू रोहिणी सुन लेंगी तब··

हयग्रीव—जैसे तुम उन से डरती हो···

वसन्तसेना—जल्दी बोलो, युवराज किस यान से गये ?

अश्वकर्ण—किस लिए पूछ रही हो ?

वसन्तसेना—राजवधू डर रही हैं, आँसू के घड़े उन की आँखों में कहाँ बन्द हैं कि जब नहीं तब चूने लगते हैं ? दोपहर से उनकी यही दशा है। कोना-कोना इस भवन का जिनकी हँसी से गूंजा करता था, जब जहाँ चाहो जूही के फूल बटोर लो। जल्दी बोलो, नहीं तो समझ लो (**भवन की ओर हाथ उठाकर**) इसके डूब जाने में अब देर नहीं है।

हयग्रीव—यह केकय राजभवन प्रलय में भी नहीं डूबेगा, यवन सुन्दरी !

वसन्तसेना—और जो वह प्रलय कहीं इसी के भीतर हो तब···

अश्वकर्ण—क्या डर है राजवधू को ? महाराज पुरु की राज्यलक्ष्मी किस लिए डरेंगी ?

वसन्तसेना—राजकुमार···जितने ऊपर इस पश्चिम में है सूर्य उतने ही ऊपर पूर्व में था, तभी गये और कहकर गये दोपहर के घण्टे जब बजेंगे

वह इस भवन में होंगे। राजवधू ने अभी तक कुछ आहार नहीं किया और दिन बीत गया। संध्या के घण्टे अब बजेंगे, वैतालिक सूर्य के डूबने की सूचना देंगे। बोलो, जा कर कह दूँ मैं उनसे, किस यान से गये वे ?

हयग्रीव—ऊँ · हुँ···बिना किसी लालच के कौन किस का काम करता है ? **(मन्द हँसी)**।

वसन्तसेना—राजवधू का काम करोगे तुम किस लालच पर·· ?

अश्वकर्ण—यह काम तुम्हारा है, यवनी ! तुम पूछ रही हो। लालच तुम से है। माता का नाम फिर न लेना···

वसन्तसेना—किस माता का ?

अश्वकर्ण—राजवधू हम दोनों की, समूचे केकय मण्डल की माता है। विस्मय क्यों हो रहा है तुम्हें ?

वसन्तसेना—आयु में वह मुझ से छोटी हैं···

हयग्रीव—पद और मर्यादा में कितनी बड़ी है तुम से ? यह भी सोच लो।

वसन्तसेना—आयु और रूप से हटकर नारी की कोई दूसरी भी मर्यादा होती है सैनिक ?

हयग्रीव—तुम्हारे यवन देश में कदाचित् न होती हो !

वसन्तसेना—नहीं होती। यवन वीर प्रेमिका के चरण आँखों में लेकर चलता है। पत्नी के राज्य में माता का प्रवेश वर्जित है। तीस के ऊपर वहाँ कोई नारी जीना नहीं चाहती। तुम लोग तो यहाँ धरती को माता कहते हो। गुरु और ब्राह्मण की पत्नी को माता कहते हो। राजा की रानी और नहीं तो अब युवराज की रानी भी तुम्हारी माता हो गई, जिसके अठारह संवत्सर भी अभी नहीं बीते ?

अश्वकर्ण—**(आगे बढ़कर उसका कान पकड़कर)** कैंची-सी जीभ चल रही है !

वसन्तसेना—**(जीभ निकालकर)** देख लो····· बारह बीतते-बीतते वहाँ, हमारी जीभ पर वह पानी चढ़ जाता है जो तुम्हारे कृपाण पर न

चढ़ता होगा ।

हयग्रीव—छोड़ दो उसे । नहीं सुनते हो ? इस परिहास का दण्ड भोगोगे ? राजवधू उस झरोखे से देख रही हैं । हाँ, क्या पूछा था तुमने यवन सुन्दरी ?

वसन्तसेना—मेरा नाम वसन्तसेना क्यों नहीं लेते ? यवन सुन्दरी··· यवन सुन्दरी, यह भी कोई नाम है क्या ?

हयग्रीव—(**पैर पटककर**) बोलो जल्दी, क्या पूछने आई थी तुम ·· क्या आज्ञा है देवी की ?

वसन्तसेना—युवराज किस वाहन पर गये ?

हयग्रीव—जंगलों के बीच से जाना है पूरे दो योजन । अपने उस हाथी पर गये हैं जिसका नाम दुर्मद है, काले पर्वत के शिखर-सा देख पड़ता है जो, जिसके मस्तक के मद में लोटकर भौंरे की गुञ्जार भूल जाती है ।

वसन्तसेना—प्रहरी से अच्छे तो तुम चारण बन सकोगे । हाथी की प्रशस्ति में तुम्हें रोमांच हो आया । महाराज पुरु की प्रशस्ति में तुम आकाश चूम लोगे ।

हयग्रीव—हाँ· हाँ, अपने उस यवन विजयी को इधर, इस पार वितस्ता के आने दो । तब मैं चारण बनूंगा ।

वसन्तसेना—कौन है वह जिसे तुम मेरा विजयी बना रहे हो ? चलो हटो, मैं कहती हूँ अभी राजवधू से···तब देखना । तुम्हें दण्ड न दिलाया तो मेरा नाम वसन्तसेना नहीं ।

अश्वकर्ण—अरे चलो ! प्रतिहारी और प्रहरी का यह नाता सनातन है । समझ रहे हो ? सनातन नाता है यह सनातन ! प्रहरी और प्रतिहारी···प्रतिहारी और प्रहरी ! (**मन्द हँसी**) ।

वसन्तसेना—अच्छी बात है देख लेना ··(**क्रोध में तिरछे देखकर**) ।

[**जाते-जाते गर्दन तिरछी कर उन दोनों की ओर देखती है । राजभवन के भीतर से राजवधू रोहिणी का प्रवेश ।**]

रोहिणी—देखकर चल। गिर पड़ेगी। चल किधर रही है और आँखें किधर हैं!

अश्वकर्ण-हयग्रीव—प्रणाम देवी! इसके देश में सुनते हैं लोगों की आँखें पीछे की ओर होती हैं।

रोहिणी—पता चला किस वाहन से गये वे?

अश्वकर्ण—युवराज की बात कह रही है देवी?

रोहिणी—कहती क्यों नहीं, हाँ···

वसन्तसेना—सो तो कह दिया पहले ही···

हयग्रीव—देवी के चरणों की शपथ · इसे तभी बता दिया था। पर यह जो हर पेड़, हर पक्षी से बात करती चलती है, हम लोग तो फिर भी आपके सेवक हैं।

रोहिणी—सच कहने में शपथ की अपेक्षा नहीं रहती प्रहरी! वह जो है मैं जानती हूँ। केकय भवन के प्रहरी अश्वकर्ण और हयग्रीव कैसे हैं, यह भी मैं जान गई। कम-से-कम शपथ की बात मैं नहीं सुनना चाहती। क्या कहा था तुम दोनों ने इससे···(**एकटक देखकर**)।

अश्वकर्ण—अपराध क्षमा हो देवी! युवराज अपने गन्धगज पर गये।

रोहिणी—कितनी दूर? किस ओर? (**लम्बी साँस खींचती है**)।

अश्वकर्ण—दो योजन उत्तर-पश्चिम! तक्षशिला पार जानेवाले घाट पर। तक्षशिला के व्यापारी, स्नातक, उपाध्याय, पौरजन सबकी सुविधा का घाट वितस्ता के इस पार यहाँ से दो योजन उत्तर-पश्चिम है। जहाँ वन के उस पार भूमि समतल और खुली है। शंकर और पार्वती के दो मन्दिर जहाँ हैं। यात्री के काम की छोटी-मोटी वस्तुएँ जहाँ वणिक दिन-रात बेचते रहते हैं। धीवर गाँव जहाँ से बराबर दिखाई देता है।

रोहिणी—मेरे वहाँ तक जाने का साधन क्या होगा?

हयग्रीव—अब तो वहाँ जाने में दिन बैठ जायगा देवी! कहें तो गजपाल से कह दूँ कि आपकी हथिनी ले आये!

रोहिणी—अश्व पर जाना चाहूँगी मैं, दिन न बैठे और मैं पहुँच जाऊँ।

अश्वकर्ण—वन का मार्ग अश्व पर सुरक्षित नहीं रहेगा। साथ में कितने जन······(**सिर नीचे कर लेता है**)।

रोहिणी—कोई नहीं अकेली मैं······बात न करो प्रहरी ! मेरे लिए एक अश्व ला दो।

हयग्रीव—पर देवी, आपको इस समय अकेले···

रोहिणी—कह चुके तुम····· मुझे अश्व चाहिए।

अश्वकर्ण—जैसी आज्ञा देवी···

[**अश्वकर्ण का प्रस्थान**]

वसन्तसेना—एक मेरे लिए भी अश्वकर्ण ······मैं तो साथ रहूँगी।

रोहिणी—नहीं जी, बस एक। जल्दी ······जल्दी।

[**दूर पर शंख की ध्वनि सुनाई पड़ती है**]

हयग्रीव—तो यह······(**उत्सुक हो उठता है**)।

रोहिणी—किसके शंख की ध्वनि है यह ?(**उत्सुक होकर सुनती है**)।

हयग्रीव—युवराज रुद्रदत्त के···

रोहिणी—कोई दूसरा तो···

हयग्रीव—तब मेरे इन कानों का अभाग्य होगा। नहीं तो केकय राजभवन का प्रहरी केकय युवराज के शंख की ध्वनि नहीं पहचानेगा ? शंख से जब वह अपना मुँह हटा लेते हैं तब भी उसकी ध्वनि आकाश में गूंजती रहती है जैसे बादल की गरज। युवराज के शंख की ध्वनि सीधी नहीं चलती, घूमकर भँवर बनाती है। बाढ़ में वितस्ता के जल में भँवर बनती है जैसे।

वसन्तसेना—अभी यहाँ धूप है देवी !

रोहिणी—और मैं मोम हूँ, गली जा रही हूँ क्यों ?

वसन्तसेना—सारा दिन आहार नहीं किया आपने।

रोहिणी—तो······(**भवें टेढ़ी हो उठती हैं**)।

वसन्तसेना—कुछ नहीं पर कोई रोक नहीं थी।

रोहिणी—बिना किसी के आहार किये मैं कर लेती ? छीः मन की

रोक यम के पाश से भी कड़ी होती है। पर तू नहीं जानेगी इसे। यवन भूमि नहीं है यह, जहाँ कोई रोक कोई बन्धन नहीं है। इस भूमि से बन्धन के अंकुर फूटते हैं, पति के प्रति, पुत्र के प्रति, जन-जन के प्रति, पशु-पक्षी, वृक्ष के प्रति। नदी और पहाड़ के प्रति भी हमारे बन्धन हैं, यवन कन्या ! तुम नहीं जानोगी यह सब।

हयग्रीव—यह सब जानती है देवी ! यह जानती थी कि जिन देशों में पहले यवन कन्याएँ पहुँचेंगी, वहाँ फिर यवन सेना भी आ धमकेगी।

वसन्तसेना—जैसे उस अलिकसुन्दर को मैंने यहाँ आने के लिए निमन्त्रित किया। मेरा भाई है वह मेरे यौतुक की सामग्री लेकर आ रहा है।

[रोहिणी की धीमी हँसी। हयग्रीव हँसी रोकने के लिए अपने मुँह पर हाथ रखता है।]

रोहिणी—कुछ सुना तुमने प्रहरी ! सवेरे तक्षशिला के उस स्नातक ने क्या कहा केकय महाराज से ?

हयग्रीव—तक्षशिला के महाराज आम्भी ने यवन अलिकसुन्दर के पास कोष के स्वर्ण-रत्न के साथ अपने गान्धार देश की स्वतन्त्रता भी भेज दी। बर्बर यवन यह अवसर कब चूकता ? आम्भी की सहायता से सिन्धु पार कर तक्षशिला में अपनी ध्वजा उसने गाड़ दी। सारी कथा जिस समय ब्राह्मण स्नातक यहाँ कहने लगा, उसकी आँखों में आग बरस रही थी। महाराज और युवराज के ललाट लाल हो गये। सुननेवालों की आँखों से चिनगारीं फूट पड़ीं। घने काले मेघ में जैसे बिजली चमकती है, ब्राह्मण के श्याम शरीर पर पीत वस्त्र और उपवीत वैसे ही चमक रहे थे।

रोहिणी—देश की स्वाधीनता को बेचनेवाला अपनी राज्य-लक्ष्मी को नंगी करनेवाला आम्भी अब महाराज नहीं है प्रहरी ! इस शब्द से उसका सम्बोधन न करना।

हयग्रीव—ठीक है, देवी ! मेरे मुँह से यह शब्द अब उसके लिए न

निकलेगा ।

रोहिणी—और तब उसके आचरण के विरोध में तक्षशिला के निवासी इधर चल पड़े ।

हयग्रीव—हाँ देवी, तक्षशिला विद्यापीठ को छोड़कर स्नातक और आचार्य ऐसे निकल गये जैसे कि पेड़ में आग लगने पर पक्षी उड़ जाते हैं और मधु-माछी भाग चलती हैं जब उनका छत्ता उजड़ जाता है । तक्षशिला के आधे से अधिक नगर-निवासी, बालक, वृद्ध, युवा, कुलवधुएँ और कन्याएँ इस ओर चल पड़ी हैं । केकय मण्डल को हृदय खोलकरउनका स्वागत करना है । महाराज, युवराज और मन्त्री परिषद् के सदस्यों के साथ इस भूमि के एक-एक निवासी पर धर्म का यह भार आ पड़ा है ।

रोहिणी—हूँ······स्वाधीनता के बिना धर्म नहीं टिकता और जहाँ धर्म नहीं उस देश में रहे कौन ? सभी आनेवाले तक्षशिला के हैं ?

हयग्रीव—ब्राह्मण कह रहा था गान्धार मण्डल उजाड़ हो रहा है । दल-के-दल युवक शस्त्रों के साथ इधर चले आ रहे हैं । दोपहर तक उतरनेवालों में पारसनरेश दारयवहु की दो कन्याएँ भी हैं । वे इसी राजभवन में रहेंगी ।

रोहिणी—तुम वहाँ गये थे क्या ? **(उत्सुक हो उठती है)** ।

हयग्रीव—हाँ देवी ! एक पहर दिन चढ़े उन दोनों की नाव किनारे लगी । युवराज ने अपने हाथ से उन दोनों को उतारा । सोने की धूल का जैसा रंग होगा; कहीं अरुण, कहीं पीत, कहीं श्वेत, या यह कुछ नहीं, अरुण, पीत और श्वेत मिलकर जहाँ एक हो गये हों, जिस रंग पर आँखों का टिकना कठिन हो जाय ।

रोहिणी—ऐसा रंग है उन कुमारियों का ····**(जैसे सोचने लगती है)** ।

हयग्रीव—हाथीदाँत और पद्मराग का रंग जहाँ घुल मिल जाय ·····**(विस्मय की मुद्रा)** ।

रोहिणी—फिर क्या हुआ ? **(अधीर होकर)** ।

हयग्रीव—युवराज के कन्धों पर एक-एक हाथ रखकर दोनों वटवृक्ष के नीचेवाले शिविर में चली गईं। उनके पैर उठते रहे या दोनों पानी पर तैर गईं, पता नहीं चला।

रोहिणी—फिर··· **(उत्सुक मुद्रा में)।**

हयग्रीव—पटमण्डप के भीतर वे कैसे रहीं, यह तो मैंने देखा नहीं। पर उनको देखकर महाराज की आँखें भर आई थीं। युवराज तो रो पड़े थे।

रोहिणी—**(साँस रोककर)** रो पड़े थे? **(चिन्ता और उद्वेग की मुद्रा)।**

हयग्रीव—हाँ देवी! सरोवर के भीतर से कमल उखाड़कर जैसे कोई बाहर फेंक दे। यही दशा थी उन दोनों की। कौन था वहाँ जिसकी आँखें न भर आई हों। तक्षशिला का वह ब्राह्मण जो सवेरे यह सब कह गया, अकेला वही समुद्र-सा गंभीर और पर्वत-सा अटल बना रहा। भवें टेढ़ी थीं उसकी। ललाट पर रेखाएँ पड़ गई थीं। पारस राज्य क्या अपने केकय से बड़ा था?

रोहिणी—**(दुःख की हँसी)** हा···हा···समुद्र के साथ तलैया की तुलना कर रहे हो? संसार का सबसे बड़ा राज्य बर्बर यवन की टक्कर से ढह गया। विभव और विलास जो पारसीक राज्य में नहीं था, इस धरती पर कहीं नहीं था। जो रत्न तुम्हारे किसी राजा के मुकुट में नहीं मिलेंगे वे पारसपुर के भवनों में जड़े थे। सूर्य पर भी ग्रहण लगता है प्रहरी! और समुद्र में बाड़व की ज्वाला भी लहकती है। सृष्टि का यही क्रम है। उत्थान के भीतर से पतन का विष बराबर निकला है। शिविर में पारसनरेश की कन्याएँ कैसे रहीं, यह तुम नहीं जानते?

हयग्रीव—नहीं देवी! एक पहर दिन रहते यहाँ काम पर जुट जाना था।

रोहिणी—वह ब्राह्मण शिविर में गया?

हयग्रीव—वितस्ता के तट पर काठ की दो चौकियों का मंच बनाकर

वह खड़ा रहा। पूरे दो पहर बीत गये, वह वहाँ से हिला नहीं। तक्षशिला से आनेवाले सभी उसके पैर छूकर आगे बढ़ते रहे। दोनों हाथ ऊपर उठाकर वह सबको अभय देता रहा। आनेवालों का ताँता अभी लगा है। जब तक लोग आते रहेंगे वह वहाँ से न हिलेंगे।

रोहिणी—हूँ···नाम क्या है इन देवता का ?

हयग्रीव—महाराज ने एक बार उन्हें विष्णुगुप्त कहा था। तीन वेद और अठारह विद्याएँ पढ़कर वह तक्षशिला विद्यापीठ में आचार्य बन गये हैं। तक्षशिला के बालक-वृद्ध सभी जानते हैं उन्हें। कुलवधूएँ भी उनसे परिचित हैं।

रोहिणी—**(सामने की ओर ध्यान से देखकर)** वह कौन आ रहा है है वसन्तसेना ?

वसन्तसेना—तक्षशिला के आचार्य विष्णुगुप्त यही हैं देवी ! आप यहीं रहेंगी ?

रोहिणी—ठहर ! इस युग के सबसे बड़े ऋषि, इस ब्राह्मण, का आशीर्वाद लेने दे मुझे। पहचान रही है ठीक से ? क्यों प्रहरी ?

हयग्रीव—हाँ देवी, यही हैं वे।

रोहिणी—**(दोनों हाथ जोड़कर झुकती है)** दासी प्रणाम करती है, आचार्य !

विष्णुगुप्त—जब तक वितस्ता में जल है···भूल तो नहीं रहा हूँ मैं युवराज रुद्रदत्त की पत्नी रोहिणी देवी आप ही हैं ?

रोहिणी—**(धरती की ओर देखकर)** यह सौभाग्य दासी को मिला है, देवता !

विष्णुगुप्त—बर्बर यवन को जीतने का यश मिले तुम्हारे पति को। इससे बड़ी कामना इस देश की किसी भी देवी की इस समय दूसरी नहीं है।

रोहिणी—'जब तक वितस्ता में जल है' का सम्बन्ध इस आशीर्वाद के साथ नहीं बैठता। तब इसका रूप दूसरा था।

विष्णुगुप्त—परिस्थिति का विवेक भूलकर मैं वह आशीर्वाद दे रहा था। जब तक वितस्ता में जल है तब तक के लिए सुहाग विवेकनिष्ठा से हीन होता। नदी के जल की आयु हम मानवों की नहीं होगी। तक्षशिला के पश्चिम समूचे गान्धार, अश्मक और निषद भूमि की कुलवधुओं का सुहाग, जिनके पति अभी जीवित हैं, जो वन और पर्वतों में विदेशी दासता के प्रतिकार में भटक रहे हैं, यवन सैनिकों ने छीन लिया। जिनके अपने धर्म में पतिव्रता का भाव नहीं है, वे अपने विजितों में यह भाव कैसे रहने देंगे।

रोहिणी—तब वे मनुष्य नहीं हैं। (**दाँत से होंठ काटती है**)।

विष्णुगुप्त—इस देश में मनुष्य का धर्म जो जाना और माना गया है, वह उनमें नहीं है। युद्ध में उनका सबसे सफल वस्त्र छल है। वचन देकर उसे तोड़ देना उनकी नीति है। पर इन बातों पर विचार इस भूमि के आयुधजीवी तरुण करेंगे, राजकुमार और राजा करेंगे, स्नातक और आचार्य करेंगे। देवी से मैं कुछ माँगने आया हूँ।

रोहिणी—आप मुझ से माँगने आये हैं? क्या है मेरे पास जिस पर धर्मज्ञ आचार्य विष्णुगुप्त का अधिकार नहीं है? (**साँस रोक लेती है**)।

विष्णुगुप्त—पारस के अभागे सम्राट् की दो कन्याओं का उद्धार आग से खेलकर मैं कर सका हूँ। युवराज के साथ हाथी पर दोनों आ रही हैं। निर्भय होकर देवी उन दोनों को शरण दें। इस युद्ध का फल क्या होगा, कोई नहीं जानता।

रोहिणी—(**भय में**) किस युद्ध का फल?

विष्णुगुप्त—केकय पति महाराज पुरु का जो युद्ध इस यवन विजयी के साथ होगा।

रोहिणी—तो क्या वह वितस्ता भी पार करेगा?

विष्णुगुप्त—यमुना और गंगा पार कर पूर्व समुद्र तक पहुँचने की लालसा है उसकी।

रोहिणी—तब वह यहीं वितस्ता की लहरों में डूबेगा। (**सिर**

हिलाकर) फिर भी इन कुमारियों को शरण देने में भय क्या है ?

विष्णुगुप्त—पारसनरेश दारयवहु की इन कन्यायों ने सुख के वे दिन देखे हैं जिनकी कल्पना केवल स्वर्ग में सम्भव होगी देवी ! दुःख भी जो ये देख चुकी हैं उसके सामने नरक भी लजा जायगा। संस्कार नीति पर पशु-वृत्ति की, उदारता पर हिंसा की, धर्म और विवेक, कला और रुचि पर निरे वन्य विधान की विजय पारसीकों पर यह यवन सेना की विजय है। समूचे संसार से मनुष्य का महत्त्व उठ गया, मानवता की अन्तिम साँस टूट रही है, इन कुमारियों को देख लेने पर ऐसा ही लगता है।

रोहिणी—हाय ! यह सब सुनकर जीने का मन नहीं होता आचार्य ! नहीं, कुछ कहें अब, ज्वर चढ़ रहा है मुझ पर इन बातों से । इन कुमारियों की सेवा मुझे कैसे करनी है ? जो कहना हो कह दें ।

विष्णुगुप्त—माता का स्नेह देना है आपको इन्हें ।

रोहिणी—किस तरह आचार्य ? जिसका ज्ञान मुझे नहीं है । माता का पद भगवान् जब तक न दें, कैसे जानूँगी मे माता का स्नेह कैसा होता है ?

विष्णुगुप्त—संकट की इस घड़ी में जब मिस्र और पारस का गौरव मिट गया, यवन विजयी का ध्वंस महाकाल के ध्वंस को पछाड़ रहा है। जिस समय, दानव पर मानव का जयघोष हमें करना है, हम अपने पूर्व-पुरुषों का स्मरण करें, इस भरत भूमि के अजेय के यश का स्मरण करें, यवन सेना की यह बाढ़ वितस्ता का यह किनारा न तोड़े, इसके लिए हमें अपने तरुणों से अधिक अपनी देवियों का सहारा लेना है। इस यज्ञ में सबसे पहले आपको बढ़ना है । महाराज पुरु की पुत्रवधू से देश आज त्याग की भिक्षा माँगता है, मानवता की अन्तिम आशा तुम्हें बनना है बेटी ! बोलो स्वीकार करती हो ?

रोहिणी—आर्यपुत्र के रथ पर उनके बायें बैठकर मैं युद्ध करूँगी। पत्नी सब कहीं पति की छाया है, यहाँ भी रहेगी। मृत्यु से डरना हमने नहीं सीखा।

विष्णुगुप्त—(**दुःख और क्रोध की हँसी**) हा·· हा···हा···हा··· अब यह नहीं होगा। युद्ध की नीति हमारी दूसरी थी जब केवल शस्त्र-धारी मारते और मरते थे। कृषक खेत जोतते रहते थे और सेनाएँ निकल जाती थीं; निःशस्त्र को जब कोई नहीं छेड़ता था। शत्रु की देवियों की ओर देखना भी जब पाप था। एक ही धर्म और नीतिवालों में जब वैर छिड़ता था। यह युद्ध दो भिन्न धर्म, नीति और संस्कारवालों में है। पुराना कुछ नहीं सब कुछ नया होगा नया, इस युद्ध में।

रोहिणी—तब आप भी युद्ध में नये धर्म और नई नीति से काम लेंगे।

विष्णुगुप्त—संस्कार के बन्धन अभी हमारे नहीं टूटेंगे, पर कुछ करना होगा हमें। अपनी देवियों को हमें बचाना होगा इन यवनों से, संस्कार और नीति विवेक का पता नहीं है जिन्हें। सिन्धु के उस पार हमारी बहू-बेटियों की जो दशा हुई और वितस्ता के उस तट तक जो होकर रहेगी, वह इस पार न हो।

रोहिणी—तब कहें यह यवन दैत्य है ··दानव है और इसकी सेना में पिशाच बसते हैं।

विष्णुगुप्त—ऐसा कुछ नहीं, वे भी मनुष्य हैं। उनके विश्वास दूसरे हैं, उनकी नीति दूसरी है। अपने पुरुषों के साथ अश्मक देवियों ने जब इन यवनों के साथ लोहा लिया, पुरुष जब सारे मारे गये, बेचारी नारियों को यवन सैनिकों में···ऊँह·· जाने दें वह बात मुख से कही भी नहीं जा सकती।

रोहिणी—क्या अश्मक देवियों को प्राण देकर अपनी प्रतिष्ठा बचाने का भी अवसर नहीं मिला ?

विष्णुगुप्त—नहीं ! अश्मक दुर्ग जब अलिकसुन्दर न जीत सका, अपने यवन देवताओं की शपथ लेकर उसने विश्वास दिलाया कि दुर्ग-वासियों को वह सकुशल निकल जाने देगा। इधर दुर्ग में भोजन की कमी हो रही थी। बच्चों और स्त्रियों के साथ अश्मक दुर्ग के बाहर

निकले। दो कोस भी आगे नहीं बढ़े थे कि यवन अश्वारोहियों की सेना ने उन पर आक्रमण किया। जब तक एक भी पुरुष जीवित रहा, यवन सैनिक उनकी देवियों को न छू सके। मृत पुरुषों के शस्त्रों को उठाकर फिर उन असहाय स्त्रियों ने भी अपने धर्म की रक्षा की। जिनके हाथ में कोई शस्त्र नहीं आया वे ही पकड़ी गईं। अश्मकरानी सुघोषा ने दोनों हाथों से कटार चलाया था।

रोहिणी—फिर वह मारी गई ?

विष्णुगुप्त—यह नहीं हुआ। अलिकसुन्दर ने उसे जीवित पकड़ने का आदेश दिया। यवनों के सात सेनापतियों ने कौशल और छल से उस बेचारी को पकड़ लिया।

रोहिणी—फिर क्या हुआ ?

विष्णुगुप्त—अब वह अलिकसुन्दर की उपपत्नी है। सात सौ दूसरी अश्मक नारियाँ यवन सैनिकों की दासियाँ बनाई गई हैं। यवन सेना वितस्ता के इस पार जब उतरे हमें गृहदेवियों को चन्द्रभागा के उस पार कर देना होगा।

हयग्रीव—वितस्ता के इस पार यवन आ जायँगे और हम जीवित रहेंगे।

विष्णुगुप्त—तुम्हारे मर जाने पर, सम्भव है मेरे मर जाने पर, एक एक केकय-तरुण के मर जाने पर। वितस्ता के पश्चिम के चुने हुए वीर उस सारे भूखण्ड के जो तुम्हारे केकय से सौगुना बड़ा है, अलिकसुन्दर की सेना में हैं। कितने देशों के नाम सुनोगे ? केतुमाल के पश्चिम के देशों को छोड़ दो, यवन, मिस्र और पारस राज्य के सभी प्रान्तों को छोड़ दो, जो कल तक हमारे बन्धु थे, इस विजयी के आतंक में विवश होकर वे ही हम से समर करेंगे। हमारे नित्य के पड़ौसी केतुमाल, सुग्ध, वाल्हीक, निषद, कम्बोज और गान्धार से तो हमारा धर्म और रक्त का सम्बन्ध रहा है। कालचक्र है यह···अपने ही अंग शत्रु के साथ हैं। केकय वीर निर्भय हैं, समर की नीति और कला भी जानते हैं। महाराज पुरु

जाति धर्म के हित में हथेली पर प्राण ले चुके हैं। युवराज रुद्रदत्त अलिकसुन्दर के प्रतिरोध को अधीर हो रहे हैं फिर भी ··

रोहिणी—निराशा के शब्द हैं ये आचार्य !

विष्णुगुप्त—नहीं बेटी, ऐसा होता तो तक्षशिला विद्यामन्दिर के कपाट बन्द न होते। विद्या की साधना छोड़कर देश के उद्धार में वहाँ के आचार्य और स्नातक सब दिशाओं में न निकल पड़ते। समय नहीं है फिर भी प्रयत्न हो रहा है कि केकय और अभिसार के तरुण एक साथ मिलकर तक्षशिला के आम्भी का कलंक धो दें। दक्षिण, पूर्व और उत्तर में कार्य हमारे आचार्य और स्नातक कर रहे हैं। तीन महीने का समय भी जो अलिकसुन्दर ने दिया तो सब ओर से सेनाएँ आ जायँगी और फिर वितस्ता का द्वार वैतरणी के द्वार से भी कठिन होगा इस हिंसक यवन के लिए।

[**सजे-सजाये अश्व की रास पकड़े अश्वकर्ण का प्रवेश। विष्णुगुप्त की ओर उत्सुक होकर देखता है।**]

अश्वकर्ण—घाट तक पहुँचते दिन डूब जायेगा देवी !

विष्णुगुप्त—किसे जाना है घाट तक भद्र ?

अश्वकर्ण—(**रोहिणी की ओर संकेत कर**) युवराज की प्रतीक्षा में देवी अभी तक निराहार हैं।

विष्णुगुप्त—चिन्ता की बात अब कोई नहीं है। युवराज अब आ ही गए। उनके सहचरों की बोली नहीं सुन रहे हो ?

अश्वकर्ण—जी······हाँ······(**कान लगाकर सुनता है**)।

रोहिणी—पर वह बात तो रह गई। (**विष्णुगुप्त की ओर देखकर सिर नीचे कर लेती है**)।

विष्णुगुप्त—अभी उस का समय नहीं आया। युवराज के साथ पारसीक कुमारियाँ आ जायँ तब देवी के त्याग का संकल्प हो !

[**सामने से आती राजपाल की ध्वनि : चै चै·· अगत्··· धत्त ··चै।**]

विष्णुगुप्त—माता के स्नेह से इन कुमारियों का स्वागत करो देवी !

रोहिणी—यह नहीं होगा देव ! सखी का स्नेह······बड़ी बहन का स्नेह मैं इन्हें दे सकूँगी। जिस स्नेह का अनुभव मुझे हुआ नहीं··· नटी की भाँति उसका अभिनय करने से कुमारियों का सन्देह बढ़ेगा। आर्यपुत्र बीच में हैं, उर्वशी और रम्भा के बीच में इन्द्र हों जैसे। मेरे स्नेह से अधिक इन्हें आर्यपुत्र के स्नेह की भूख होगी। वह तभी होगा जब मैं इनकी सखी, इनकी बड़ी बहन बन जाऊँ। माता बनकर इन दोनों को आर्यपुत्र से दूर करना होगा। आर्यपुत्र के स्नेह में इनका भाग रहे और मैं इसमें बाधा न दूं। यही त्याग चाहते हैं आप मुझ से ?

विष्णुगुप्त—हाँ देवी ! यही ! (**गंभीर स्वर में**)।

रोहिणी—स्वीकार है मुझे यह। पर इन कुमारियों को यह यवन इतनी दूर क्यों ले आया ? संसार-विजय की कामना में ये किस काम आतीं ? पारसनरेश की इन दोनों कुमारियों को लेकर वह यवन-भूमि लौट जाता। जगत् के सबसे बड़े सम्राट की दो कुमारियों का स्वामी बनने से वड़ा लाभ क्या सारी धरती का स्वामी बन जाना है ?

विष्णुगुप्त— छोटी बहनें हैं ये दोनों। बड़ी बहन आर्त्तकामा का उद्धार मेरे पारसीक स्नातक नहीं कर सके। इनका उद्धार भी असम्भव होता जो यवन सेनापतियों के आकर्षण का केन्द्र ये बन सकी होतीं। विजयी यवन की प्रेयसी ताया की रक्षा में जो ये न रही होतीं।

रोहिणी—क्या आयु होगी इन कुमारियों की ?

विष्णुगुप्त—दारयवहु की दो पत्नियों से दोनों का जन्म एक ही मास में हुआ था। पन्द्रहवें वर्ष में होंगी दोनों।

रोहिणी—बड़ी कुमारी का नाम क्या बताया आपने ?

विष्णुगुप्त—आर्त्तकामा। दारयवहु की सब से बड़ी रानी की लड़की है वह, सुना है वह अब तरुणी हो चुकी है। बड़े से बड़ा समर जीतने के कारण किस यवन सेनापति को वह पुरस्कार में मिलती है, अलिकसुन्दर के सेनापतियों में इसी की प्रतिस्पर्द्धा चल रही है।

रोहिणी—तब तो युद्ध में वे सभी यमराज बन जाते होंगे !

विष्णुगुप्त—इसमें क्या सन्देह है ?

रोहिणी—पारसीक सम्राट् की कई पत्नियाँ रही होंगी तब···

विष्णुगुप्त—अनेक······कोई कह नहीं सकता कितनी। यही दशा सामन्तों और सेनापतियों की भी थी। किसके अन्तःपुर में कितनी रमणियाँ हैं उनके वैभव का यही मानदण्ड बन गया था। पारसीक साम्राज्य रूप और विलास की ज्वाला में जला है। इस बर्बर यवन को विजय का यश मिलना था, मिल गया।

[**नेपथ्य में गजपाल और अनुचरों की ध्वनि**]

हयग्रीव—युवराज आ गये। गज बैठ गया।

रोहिणी—सिंहद्वार के आगे तक जाना है मुझे ? आचार्य !

विष्णुगुप्त—बस सिंहद्वार तक !

[**रोहिणी वसन्तसेना को संकेत कर आगे बढ़ती है। वसन्तसेना उसके पीछे सिंहद्वार तक जाती है। युवराज रुद्रदत्त के साथ दोनों कुमारियों का प्रवेश।**]

रुद्रदत्त—संसार के पार्थिव सूर्य दारयवहु की दो कुमारियाँ समय के फेर से आज तुम्हारी शरण में हैं देवी !

रोहिणी—(**गद्गद् कण्ठ से**) मैं इन्हें अपनी पलकों में रखूंगी।

[**दोनों को खींचकर कण्ठ से लगाती है। दोनों कुमारियाँ उसके कन्धे पर सिर टेककर सिसकने लगती हैं।**]

रुद्रदत्त—यहाँ नहीं। दुःख भूलता नहीं पर धीरज रखते हैं। विपत्ति में भी महान महान ही रहता है। डूबते सूर्य की किरणें भी तब पर्वत-शिखर पर रहती हैं।

रोहिणी—सहारे से ले चल वसन्त, इन्हें मैं ले चलती हूँ।

[**वसन्तसेना और रोहिणी के सहारे दोनों कुमारियाँ सिंहद्वार के आगे सीढ़ियों से ऊपर भवन में चली जाती हैं।**]

रुद्रदत्त—(**अश्वकर्ण से**) किसी को कहीं जाना है जो देवी का अश्व लिये खड़े हो ? (**विस्मय का स्वर**)।

अश्वकर्ण—देवी स्वयं घाट पर जा रही थीं। सारा दिन उनका आज निराहार बीता है।

रुद्रदत्त—दोपहर को लौट आने को कह गया था मैं। यवन विजयी की सेना जिस भूखण्ड से निकली उसकी पुरानी मान्यतायें मिट गई। सच है न यह आचार्य !

विष्णुगुप्त—हाँ, वत्स !

रुद्रदत्त—मिस्र का सारा अतीत मिट गया और पारस का भी। अतीत के मिट जाने का अर्थ है जातीय मान्यताओं का मिट जाना ·· संस्कृति की परम्परा का मिट जाना। समय का फेर है यह। आर्यों में आर्य और क्षत्रियों में क्षत्रिय कुरु और क्षयार्ष की भृकुटि भंग से जो यमन काँपते रहते थे, जिनके दूत हाथ जोड़े पारसपुर के राजभवनों में खड़े रहते थे, उन्हीं ने पारस की राज्य-लक्ष्मी को नंगी कर दिया। भाग्य का फेर है यह !

विष्णुगुप्त—कर्म का फेर भी है यह प्रियदर्शन ! रूप और यौवन का मद जब पारसीक जन-जीवन पर छा गया····· राजा, मंत्री, सामन्त, सैनिक और सेनापति विलास की बाढ़ में जब डूब गये, यवन विजयी को अवसर मिला। क्या हो गया था पारस की उस सेना को जो संख्या में इन यवनों से दस गुनी थी ? कर्म का फेर है यह, भाग्य का नहीं। स्वयं दारयवहु क्या समर में युद्ध-गति नहीं ले सकते थे जो अंगूठी का रत्न चाटकर मरे ? भूमण्डल की रूपवती नारियों से जिनका अन्तःपुर भरा था, उसी अन्तःपुर को असहाय छोड़कर जो अपने प्राण के मोह में भाग निकला उसके प्रति घृणा पहले उपजती है और दया बाद में।

रुद्रदत्त—सारा दिन आपको खड़े बीता, अब चलकर थोड़ा विश्राम करें। हाँ, आपने भी आज कुछ आहार नहीं किया और उधर देवी भी निराहार हैं।

विष्णुगुप्त—सूर्य रहते आहार करता हूँ मैं, दिन और रात में केवल एक बार। पूजा के समय शंकर का प्रसाद ले लिया था। हमारा आहार

विजयी यवन छीनता जा रहा है। और कुछ नहीं तो हम अपनी इस वृत्ति पर अधिकार कर लें।

रुद्रदत्त—हम भोजन करना छोड़ दें ?

विष्णुगुप्त—हमारी धरती छीनी जा रही है, हमारी नदियाँ विदेशियों के अधिकार में हैं। आहार हम करेंगे कहाँ से ? तक्षशिला छोड़ने के समय स्नातकों और आचार्यों ने एक साथ एकाहार का व्रत लिया था। यवन विजयी जब तक इस भूमि से निकल नहीं जाता यह व्रत चलेगा।

रुद्रदत्त—तब हम इस व्रत का निर्वाह करें। केकय जनपद का एक-एक जन, सैनिक, सेनापति, सब···

विष्णुगुप्त—व्रत निर्वाह का अधिकार सब को समान नहीं होता युवराज ! तक्षशिला के आचार्य और स्नातक समाज की चेतना और कर्मनिष्ठा के अग्रदूत हैं। केवल देश के नहीं विदेश के स्नातक जो चिकित्सा और दर्शन के अध्ययन के लिये आये थे वे भी हमारे साथ हैं। इस समय तुम अपनी पत्नी को आहार का अवसर दो। पारस की राज़कुमारियों से तुम्हारा सहज संसर्ग बना रहे।

रुद्रदत्त—अन्त में उनका क्या होगा ? किस रूप में वे यहाँ रहेंगी ?

विष्णुगुप्त—देवी रोहिणी इस प्रश्न का उत्तर देंगी। उनसे पूछ देखो क्या कहती हैं।

रुद्रदत्त—पर आप कुछ जानते हैं इसका आभास हो रहा है मुझे।

विष्णुगुप्त—नारी के मन की बात दैव भी नहीं जानता। और इस विषय में मुझे अभी मौन रहना है, जब तक उसका अवसर नहीं आ जाता। विजयी यवन को इस भूमि से निकालकर····· हाँ तब इन राजकुमारियों का प्रसंग उठेगा। अब तुम जाओ। वह देखो तुम्हारे पूज्यपाद पिताश्री आ रहे हैं। इस समय मुझे उनसे यवन विजयी के प्रतिकार पर राय करनी है।

[रुद्रदत्त भवन की ओर जा रहा है। पुष्ट और लम्बा शरीर।

गोरा रंग, ललाट और कण्ठ पर रेखायें, मसें निकल रही हैं । ललाट पर श्वेत भस्म का त्रिपुण्ड है । केकयराज पुरु का प्रवेश । प्रायः पचास वर्ष की अवस्था । शांत-गम्भीर आकृति । कन्धे में धनुष और दायें हाथ में भल्ल । पीठ पर तरकस । दाईं ओर कटिबन्ध से लगा खड्ग । असाधारण पुष्ट लम्बा शरीर । दाढ़ी, मूँछ के गभिन लम्बे बाल जो कहीं-कहीं एक-आध उजले हो चले हैं । लम्बी रतनार आँखें, दोनों ओर नुकीली मूँछ कान छू रही है । गोरे रंग के ललाट और कण्ठ पर कपूर के रंग का श्वेत त्रिपुण्ड ।]

पुरु—सुना आपने आचार्य !

विष्णुगुप्त—कोई नई सूचना है ?

पुरु—हाँ..... आम्भी के इस आचरण के मूल मे मेरा द्रोह था ।

विष्णुगुप्त—पर यह मैं जानता हूँ पहले ही से ।

पुरु—मुझ से तो नहीं कहा आपने ?

विष्णुगुप्त—कोई लाभ नहीं था राजन् । केकय के पहले गान्धार की स्वाधीनता गई । दूसरे के अपशकुन के लिए अपनी नाक काटना इसे ही कहते हैं । आप का पुरुषार्थहीन प्रतिद्वन्द्वी यवन पौरुष से आपको नीचा दिखायेगा । अपने घर का द्वार खोलकर यवन दस्यु को निमन्त्रित करने वाला इस भूमि का कलंक तब तक रहेगा जब तक आकाश में सूर्य और चन्द्र रहेंगे ।

पुरु—आम्भी के परिवार या गान्धारजन के किसी व्यक्ति के प्रति स्वप्न में भी द्रोह का आचरण मुझ से नहीं हुआ । क्या वैर था मुझ से जिसके लिए भरतभूमि का सिंहद्वार इस ध्वंसक यवन के लिए खोला गया ?

विष्णुगुप्त—मनुष्य कर्म की परिधि होती है राजन् ! उसके संचित कर्मों के अनुसार, और वह विवश होकर उसी परिधि में घूमता है । आम्भी अपने कर्म की परिधि में है इसकी चिन्ता क्या ? धर्म, जाति और अपनी धरती के साथ द्रोह किया है उसने, देवमन्दिर में श्वपच

को आसन दिया है। हर ध्वंस में निर्माण के और हर प्रलय में सृष्टि के बीज पड़ते हैं। शिव के भक्त को शंकर के ताण्डव से बल लेना है आज।

पुरु—जी करता है तक्षशिला पहुँचकर आम्भी से पूछूं, उसी उत्सव भूमि में पूछूँ जहाँ यवनराज के स्वागत में तक्षशिला की उन किशोरियों का नृत्य हो रहा है, जिन्हें वितस्ता पार करने का अवसर नहीं मिला। युद्ध में हमारे वीरों का नृत्य देखता वह, हमारे जातीय जीवन का चीर-हरण वह इस रूप में क्यों कर रहा है?

विष्णुगुप्त—महाराज! (**दृढ़ संकल्प की मुद्रा**)।

पुरु—कहें······(**उत्सुक होकर**)।

विष्णुगुप्त—विदेशी यवन को जीतने के लिए यह आवश्यक है कि पहले आप अपना क्रोध जीतें। अलिकसुन्दर का जन्म न आपकी जाति में हुआ है न धर्म में। उसके संस्कार आप से भिन्न हैं। शत्रु के बालकों और नारियों का भी वध करते हैं वे। गान्धार की धरती के साथ उस धरती की कुमारियाँ भी अब यवन सम्पत्ति हैं।

पुरु—(**घोर विस्मय और विराग में**) ऐसा······? व्यवहार नियम इनके यहाँ नहीं चलते!

विष्णुगुप्त—युद्ध में पराजित शत्रु इनके दास बनते हैं। दास के प्रति दया-धर्म इनके यहाँ नहीं चलता। दास मनुष्य नहीं रह जाता। पशु से भी नीचे गिर जाता है। आम्भी की जलाई यह अग्नि कहाँ तक भस्म करेगी, कहा नहीं जा सकता।

पुरु—मिस्र और पारस की मानवता मिटाकर यह अब भारत की मानवता मिटायेगा। निर्माण करनेवाले दूसरे रहे, इस यवन का जन्म केवल ध्वंस के लिए हुआ है।

विष्णुगुप्त—मिस्र के पुस्तकालय और कलाभवन, पारसपुर, सूषा, एकबताना के राजमन्दिर इसके प्रमाण हैं जिनकी अग्नि वर्षों तक नहीं बुझी। पारस के तक्षण शिल्पियों ने जिन मूर्तियों को वर्षों की साधना से बनाया, यवन छेनियों की चोट से वे दिनों में ही मिट गईं।

[**सामने की ओर ध्यान से देखने लगता है । दो युवक तक्षशिला के स्नातक वेश में पीत परिधान, पीत यज्ञोपवीत और पीत उत्तरीय में दिखाई पड़ते हैं । दोनों के ललाट पर त्रिपुण्ड है ।**]

पुरु—दोनों आपके स्नातक हैं ?

विष्णुगुप्त—तक्षशिला विद्यापीठ के स्नातक हैं ये । तीन दिन पूर्व जहाँ मैं भी स्नातक था ।

पुरु—आप वहाँ के आचार्य हैं । तक्षशिला के नर-नारी, बालक-वृद्ध सब आपको आचार्य कहते हैं । ब्रह्मचारी की अवस्था भी आप पार कर गये हैं अब ।

विष्णुगुप्त—परसों मेरा पैंतीसवाँ जन्म-दिन था । उसी दिन तक्षशिला में विदेशी चरण पड़े । विद्यापीठ के कपाट बन्द हुए ; कहिये, मेरा यह जन्मदिन कितना शुभ रहा ! (**मन्द हँसी**) ।

पुरु—विनोद कर रहे हैं आप । आपके जन्म-दिन और यवन विजय में कोई सम्बन्ध नहीं है ।

[**दोनों स्नातकों का प्रवेश । दोनों साथ ही विष्णुगुप्त के चरणों में झुकते हैं ।**]

विष्णुगुप्त—स्वस्ति······स्वस्ति, प्रियदर्शन ! तुम अकेले हो अग्निवर्ण ! मातंग कहाँ है ? प्रियदर्शन ! (**दूसरे स्नातक की ओर विस्मय से देखकर**) तुम यहाँ··! (**साँस रोक लेते हैं**) ।

अग्निवर्ण—मातंग अब इस लोक में नहीं है । उसका स्थान गान्धार राजकुमार भद्रबाहु ने लिया है । संकल्प और प्रतिज्ञा की विधि भी इनकी पूरी हो चुकी है ।

विष्णुगुप्त—पहले यह कहो प्रियदर्शन ! मातंग को क्या हुआ ? (**दाँत से होंठ दबा लेते हैं**) ।

अग्निवर्ण—पारस की दोनों राजकुमारियों को नाव पर बैठाकर हम लोग लौट गये राजकुमारी आर्त्तकामा की योजना में । अकेली राजकुमारी कितने यवन सेनापतियों की अनुराग-साधिका बनेगी । तालेमी,

क्रातेरस, कोइनस, मिलिगर, और भी कितने आर्त्तकामा के प्रणय में प्राण का सौदा कर रहे हैं। सिन्धु के पार करने में यवन विजयी को जितने दारुण समर करने पड़े हैं उनसे कहीं भयानक समर उसके सेनानायकों के हृदय में चल रहा है। दोनों राजकुमारियों के लुप्त हो जाने से वे सजग हो चुके **थे** !

विष्णुगुप्त—समूचे पुराण का पारायण न करो। मातंग कैसे मरा ? एक शब्द में, एक वाक्य में, एक साँस में कह दो। (**कठोर मुद्रा**)।

अग्निवर्ण—किन शब्दों में कहूँ ? हृदय को वज्र कैसे बनाऊँ ?

विष्णुगुप्त—नारी नहीं हो तुम, पुरुष हो तुम। पुरुष का आचरण करो। (**स्वर काँपने लगता है**)।

अग्निवर्ण—(**साँस रोककर, दायें हाथ से अपना ललाट पकड़कर**) अलिकसुन्दर के ठीक सामने तालेमी ने हाथ भर लम्बा भल्ल मातंग की पीठ में देह का सारा बल दायें हाथ में भरकर मारा, नाभि के बीच से आधा भाग बाहर निकल आया।

भद्रबाहु—मृत्यु में भी वेग होता है आचार्य ! मातंग मृत्यु के वेग में खड़ा हो गया। हत्यारे के हाथ से भल्ल छूट गया। यमराज की हँसी मातंग के मुंह से फूट पड़ी और पेट में भल्ल लिये हिंसक यवन मण्डली में वह नाचने लगा, भभर कर सैनिक भाग चले, भागने की हड़बड़ी में अलिकसुन्दर का व्याघ्रमुख मुकुट धरती पर गिर पड़ा। आर्त्तकामा चीखकर मूच्छित हो गई। विजयी यवन की प्रेयसी वारवनिता ताया क्षण भर कोने में सिमटकर खड़ी रही। दूसरे ही क्षण उसके टहटहे लाल होठों में हँसी की धीमी लहर चली और जैसे उन्माद हो आया हो उसे···मातंग का रक्त दोनों हाथों में रोककर अपने अंगों का लेप करने लगी।

अग्निवर्ण—कहा मातंग ने, त्वचा को रंग दे रही हो विलासिनी ?

विष्णुगुप्त—(**आँखें लाल हो गई हैं जिसकी, साँस का वेग बढ़ गया है, ललाट का त्रिपुण्ड स्वेद से बह चला है**) उस रूप की मोहिनी ने तब क्या कहा ?

अग्निवर्ण—मुसकान में पहले घने दाँतों की रेखा चमकाकर उसने कहा, 'ब्रह्मचारी के रक्त की आभा में इस त्वचा का सम्मोहन विजयी के लिए असह्य हो उठेगा और फिर तो पूर्व समुद्र तक उसके विजय की पताका फहरायेगी—धरती के उस छोर तक। विजयी के गुरु ने, अरिस्तातल ने, विश्व-विजय का जो मन्त्र दिया था उसका प्रभाव वक्षु के उस पार पारसपुर के राजभवनों में ही मिट गया। आगे की विजयों के मूल में मेरा सम्मोहक रूप है। स्वर्ग की अप्सरियों से कह देना यह मातंग।'

विष्णुगुप्त—सच कह रही है यह वीरांगना। इसके बाद मातंग गिरा होगा।

भद्रबाहु—'प्रणाम कहना आचार्य को। प्रतिज्ञा का संकल्प जो उनके श्रीमुख से निकला···उसका निर्वाह मैं कर चुका।'

विष्णुगुप्त—(**आवेश में**) मातंग का जन्म पारसपुर में हुआ और मृत्यु हुई तक्षशिला में। पारस के जिस गौरव की रक्षा दारयवहु और उसके सेनापतियों से नहीं हुई, मातंग ने उसे बचा लिया यहाँ इतनी दूर।

भद्रबाहु—मातंग ने संकेत से मुझे बुलाकर, 'मेरे स्थान पर अब तुम्हें रहना है' कहा और अपने रक्त का तिलक मेरे मस्तक पर लगा दिया। देशद्रोही पिता का पुत्र कर्त्तव्य का भार ढो सकेगा? मुझे बल देना बन्धु! मेरे हर आचरण को देखना। रक्त का दोष संस्कार से नहीं मिटता।

[**ऊपर देखने लगता है**]

विष्णुगुप्त—ऊपर आकाश में क्या देख रहे हो?

भद्रबाहु—बन्धु मातंग को देख रहा हूँ। देव-मण्डली में वह ऊँचे आसन पर बैठे हैं। देवकुमारियाँ चँवर डुला रही हैं।

विष्णुगुप्त—अपने से पृथक् मातंग को तुम कहीं न पाओगे। अपने भीतर देखो उसे···अपनी आत्मा में, अपने हृदय में, अपने प्राण में! अग्निवर्ण!

अग्निवर्ण—जी···(**घोर शोक की मुद्रा**)।

विष्णुगुप्त—अपराध प्रमाणित हो गया था ?

अग्निवर्ण—जी नहीं, तालेमी ने जिस समय हम दोनों को अपने सैनिकों से घेर लिया हम दोनों लता-कुंजों के बीचवाले जलकुण्ड की सीढ़ियों पर बैठे थे। अलिकसुन्दर के सामने पहुँच जाने पर उसने हमारा परिचय पूछा। मातंग पहले बोल उठा कि हम दोनों पारस के निवासी हैं। विद्यापीठ के बन्द हो जाने पर हमारा निवास और कहाँ होगा…

विष्णुगुप्त—फिर ..

अग्निवर्ण—यवन विजयी ने पारस की दो छोटी राजकुमारियों के भगा ले जाने का संदेह हम दोनों पर व्यक्त किया। मातंग ने पूछा 'प्रमाण ?' इस एक शब्द का उसके मुँह से निकलना था कि तालेमी का भल्ल पूरे वेग में उसकी पीठ पर पड़ा। एक पहर दिन था तब, एक पहर रात जाते आर्त्तकामा के उद्धार की योजना भी बन चुकी थी, पर दैव की गति हमारे वश की तो थी नहीं।

पुरु—(**भद्रबाहु की ओर हाथ उठाकर**) तो क्या यह सचमुच गान्धार के राजकुमार महाराज आम्भी के पुत्र हैं ? (**कठोर और काँपते स्वर में**)।

भद्रबाहु—गान्धार के महाराज का नाम अलिकसुन्दर है। जिस महापुरुष का नाम आपने लिया, उसका अभागा पुत्र आपके सामने है।

पुरु—क्या कह रहे हो प्रियदर्शन ! तुम्हारी बातों पर मैं विश्वास कर लूं ? यह जानकर कि केकय को नीचा दिखाने के लिए ही गान्धार की स्वतन्त्रता युग्ध में ही बेच दी गई। तुम्हारे शस्त्र कहाँ हैं ? (**भवें टेढ़ी पड़ जाती हैं, आँखों में क्रोध का रंग**)।

भद्रबाहु—सिन्धु के जल में। अलिकसुन्दर के देखते-देखते जब मैं अपना एक-एक शस्त्र सिन्धु में फेंकने लगा…

पुरु—हाँ, चुप क्यों हो गये ?

भद्रबाहु—यह बात कहने की नहीं है, महाराज ! गान्धार-नरेश मेरे शस्त्रगुरु भी थे। राजन्यों में पुत्र को शस्त्र पिता से मिलते हैं। युवराज रुद्रदत्त को आप से ही शस्त्र मिले होंगे। गंगा से लेकर कुभा के बीच में

और आगे वाल्हीक में भी यह प्रथा है।

पुरु—हाँ···है। तब···

भद्रबाहु—मेरे पिता और शस्त्रगुरु से जब शस्त्र की मर्यादा मिट गई, फिर उनके दिये शस्त्रों से मुझे कब यश मिलता? सोच लिया मैंने तभी···वितस्ता के तट पर नरसिंह महाराज पुरु से शस्त्र की दीक्षा लूँगा। शत्रु का पुत्र होने से जो आप से यह न हो तो संन्यास का मार्ग मेरे लिए खुला है।

पुरु—बीस वर्ष की अवस्था में संन्यास कब किसने लिया है?

भद्रबाहु—तक्षशिला विद्यापीठ में तीन क्षपणक आचार्य और तीस स्नातक हो चुके थे। शाक्यमुनि की अनात्म विद्या का एक अलग विभाग चलने लगा था। आधी रात और कभी-कभी पिछले पहर तक क्षपणकों के साथ गान्धार-नरेश की जो निर्वाण संगति चलती रही, उसी का यह फल हुआ कि यवन विजयी पारसीक राजभवनों की सात सौ भाण्डद्राक्षी सुरा और सिन्धु के पश्चिम की सात सौ सुन्दरियों के साथ सिन्धु पार कर गया। तीर्थ-यात्रा भी इतनी सुगम नहीं होती, यह तो बर्बर यवन की विजय-यात्रा है। इस देश के इतिहास पुराण में जब यह बात लिखी जायगी···

विष्णुगुप्त—नहीं कुमार! यवन विजय की यह कथा हमारी भाषा में नहीं लिखी जायगी। नींद में सोये अजगर पर जम्बुक ने दाँत मारा है। अजगर की नींद समय पर खुलेगी तब यह घाव भर चुका होगा। अपने नाम के नगर जो यह बसाता चला आ रहा है देश का विवेक उन नगरों को नहीं रहने देगा। यवन-विजय के एक-एक चिह्न इतने गहरे पाताल में गाड़े जायँगे कि भावी पीढ़ी को उनका पता भी न चलेगा। क्षत्रिय की असि का कलंक ब्राह्मण की लेखनी पर नहीं चढ़ेगा।

भद्रबाहु—और ये क्षपणक?

विष्णुगुप्त—शाक्य गौतम के मत में भी अधिक ब्राह्मण क्षत्रिय हैं। वह धर्म अभी अभिजात्यों तक सीमित है। क्या करना होगा इसमें, वह

देख रहा हूँ मैं। पहले यह संकट तो टले।

भद्रबाहु—फिर यह चिन्ता मिटी। केकय नरेश देंगे मुझे शस्त्र ?

पुरु—तुम्हारे पिता मुझे शत्रु बना चुके हैं।

भद्रबाहु—जाति और धर्म के शत्रु आप नहीं हैं। सुन्दरी और सुरा के सहकार में यवन सेना सिन्धु पार कर गई, वितस्ता पार करने का रूप दूसरा होगा।

पुरु—हा·· हा···हा··· (**क्रोध और घृणा की हँसी**)।

भद्रबाहु—इस हँसी का अर्थ है कि वितस्ता नहीं पार करेगा यवन।

पुरु—नहीं जी····गान्धार की सीमा में वह जो करे। वितस्ता की लहरें निगल जायँगी उसे और उसकी सेना को।

भद्रबाहु—उन्हीं लहरों में मैं गान्धार का कलंक धो पाऊँगा।

पुरु—इसका अवसर सिन्धु के तट पर था। यहाँ यह अधिकार दूसरों का है।

विष्णुगुप्त—यवन देश की गौरवशालिनी नगर सभ्यताओं के खण्डहर पर यवनराज खड़ा हुआ। मेधावी अरिस्तातल ने समूचे संसार में यवन विजय के लिए अपने देश के यवन राज्यों को मिटाकर सत्ता अलिकसुन्दर के हाथों में रख दी।

पुरु—कौन है यह अरिस्तातल ?

विष्णुगुप्त—अलिकसुन्दर का विद्यागुरु। संसार भर की प्राचीन सभ्यताओं को मिटाकर यवन सभ्यता के प्रसार का मंत्र जो उस मेधावी ने इसे दिया, जाति के दर्प से उसने जो एक-एक यवन सैनिक को भर दिया; मिस्र और पारस के संहार में सूर्य से भी प्रखर उसका रूप दमक रहा है। यवन शस्त्रों की ही विजय नहीं है यह। इसके मूल में यवन शास्त्र काम कर रहा है जिसका प्रवर्त्तक आचार्य अरिस्तातल है।

भद्रबाहु—ओ हो ! तब तो आप भी उसके शास्त्र से प्रभावित हो उठे हैं।

विष्णुगुप्त—सूर्य का तेज किस पर नहीं छा जाता कुमार ! विस्मय मत

करो। यवन विधान से भारत तभी बचेगा जब इसके सभी अंग एक साथ होंगे।

पुरु—क्या···क्या··· (**विस्मय और चिन्ता की मुद्रा**)।

विष्णुगुप्त—सारा देश जब एक ध्वजा और एक व्यवस्था के नीचे होगा।

पुरु—अलिकसुन्दर-सा कोई भारतीय विजयी खड़ा हो। समूचे देश को अपनी ध्वजा के नीचे शस्त्र के बल से खींच लाये। स्वप्न तो यह सुन्दर है पर व्यवहार में···तब सिन्धु का, गंगा और यमुना का जल लाल हो उठेगा।· कुल के भेद, गोत्र और जन के भेद, अपनी पहचान, अपना इतिहास कौन छोड़ेगा ?

विष्णुगुप्त—कुल-भेद बना रहे, जन-भेद बना रहे और यह यवन विजयी रोका भी जाय ? अपने देश में इन भेदों को मिटाकर ही यह यवन यहाँ तक पहुँच सका है। यवन, मिस्र, पारस, वावेरु, मकरान, वाल्हीक, निषद, कम्बोज और अब गान्धार की भी सम्मिलित शक्ति एक ओर होगी और अकेला केकय एक ओर। अकेले केकय जन को यह यश न लेने दें महाराज !

पुरु—इस समय यज्ञ में मुझे आवाहन सब का करना है। गान्धार तो चला गया पर उत्तर का अभिसार, दक्षिण के भद्र, मालव, क्षुद्रक, सौभूति और पश्चिम के मगध तक के जितने जन हैं सब को निमन्त्रित करना है पर यह ध्रुव है कि इस यज्ञ का कर्त्ता दैव ने अब मुझे बना दिया।

भद्रबाहु—इस यज्ञ का नाम तब यवन यज्ञ होगा महाराज ! जनमेजय के नाग-यज्ञ की भाँति।

पुरु—(**जैसे उनकी बात न सुनकर**) यही स्थान है आचार्य ! राजर्षि अश्वपति की सभा यहीं लगी थी।। प्रासाद वितान से लगकर इधर पट वितान लगा था। मेधावी ब्राह्मणों और राजन्यों के बीच में केकय भूमि का परिचय जो उन्होंने दिया था।

विष्णुगुप्त—'न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपः।
नानाहिताग्निर्नाविद्वान्न स्वैरी स्वैरिणी कुतः।'

पुरु—उन पूर्वपुरुष के पैर की धूलि भी मैं नहीं हूँ, पर केकय जनपद

अब भी वही है। देख लिया आपने वितस्ता के घाट पर उस पार से आनेवालों का स्वागत यह जनपद किस उत्साह से कर रहा है। अतिथि-सेवा का अधिक-से-अधिक लाभ लेने के लिए लोगों में होड़ मची है। आसन्न यवन-भय पर आज समिति विचार करती नहीं तो कौन किस का अतिथि हो सारा दिन इसी विचार में गया और जब तक लोग आते रहेंगे यह विचार भी चलता रहेगा।

अग्निवर्ण—उधर से अब कोई नहीं आ पायेगा। यवन स्कन्धावार से दोनों राजकुमारियों का निकल भागना जैसे यवन सेना की नाक कट गई है। तक्षशिला के एक-एक घर का कोना-कोना छान डाला गया। यवन सैनिकों को इसी बहाने तक्षशिला की संचित निधि मिल गई। नारियों के देह पर से सोने और रत्नों के आभूषण उतार लिए गए। यवन-भय से पिछले कई दिनों जो घर से बाहर नहीं निकलीं विवश होकर उन्हें भी यवन-शिविरों में जाना पड़ा।

पुरु—(**भद्रबाहु की ओर देखकर**) सत्य कह रहे हैं यह स्नातक ?

भद्रबाहु—अक्षर···अक्षर···

पुरु—वहाँ अब भी पुरुष हैं। सिन्धु का जल जैसे उनके लिए सूख गया है। डूब मरते उसी में जाकर। अबला के धर्म की रक्षा जिस धरती पर न हो उस धरती को रसातल में समा जाना चाहिए। मुझ से शस्त्र लेना हो, भद्रबाहु तो फिर चलो। यवन स्कन्धावार में तक्षशिला के भीतर तुम्हें शस्त्र दूंगा। (**आँखों में रक्त का रंग छा जाता है**) चलो, अभी चलो मेरे साथ।

[**भद्रबाहु का हाथ पकड़कर आगे बढ़ता है**]

विष्णुगुप्त—(**आगे बढ़कर रोकते हुए**) नीति और धर्म के उपदेश के लिए यवनों के पास जैसे कान हैं···एं ?······धर्म और नीति की परिभाषा उनकी दूसरी है। दो जन के मर जाने से कोई बात नहीं बनेगी।

पुरु—पर बिगड़ेगा भी क्या ? रात्रि के अन्धकार का नाश भोर का बाल-सूर्य कर देता है। मैं तीसरे पहर में हूँ और राजकुमार अभी पहला

पार कर रहे हैं। जिस जाति ने यमराज से विनोद किया, मृत्यु को जिसने उत्सव माना, यवन-भय में वही अधीर होकर पुरुष के सबसे बड़े धर्म नारी की रक्षा का भी निर्वाह न कर सकी। धरती वही है, आकाश भी वही है, सूर्य और चन्द्र वही हैं केवल हम वह नहीं रहे अब। **(वेग से साँस लेने लगता है)**।

विष्णुगुप्त—उत्तेजना से नहीं विवेक से काम लें महाराज ! व्यक्ति की वीरता का युग अब चला गया। सामूहिक हिंसा के इस नये युग में अपना पुराना छोड़कर अब आपको भी नया होना है।

पुरु—यवनों में कोई अकेला मेरे साथ द्वैरथ युद्ध करे, बारी-बारी से सभी समर करें, मेरे हार जाने पर केकय उनका हो।

विष्णुगुप्त—(**व्यंग्य की हँसी**) हा······हा······हा······हा, महाभारत के समर का आदर्श इन विदेशी यवनों पर चलेगा ? इस प्रकार समूची भरतभूमि······समूची भारतीय संतति इन यवनों के अधिकार में चली जायगी। भूल जाइये अपनी या देश के किसी भी अजेय वीर की वीरता को। दो समाजों की, दो संस्कृतियों की, दो व्यवहार विधानों की टक्कर है यह। अश्वमेध और राजसूय के नियम यहाँ नहीं चलेंगे।

पुरु—(**हताश मुद्रा में**) तब···

विष्णुगुप्त—दिन-रात में भारती प्रजा की शक्तियों को केन्द्रित कर, एक संगठन और एक नियम विधान में संचालित कर यवन सेना के सामने खड़ी कर देना है जैसे पर्वत समुद्र की लहरों के सामने अड़ा रहता है। परिषद् की बैठक आप कब कर रहे हैं ?

पुरु—केकय परिषद् की···?

विष्णुगुप्त—हाँ····

पुरु—कल दोपहर को। सब कहीं वैतालिक शंख बजाकर यह सूचना दे रहे हैं आज सवेरे से···

विष्णुगुप्त—हूँ······और युवराज भद्रबाहु के लिए क्या आज्ञा है ?

पुरु—इसका निर्णय वहीं होगा।

विष्णुगुप्त—यह जानकर कि गान्धार के राजकुमार यहाँ आये हैं, सदस्यों की देह में आग लग जायगी और तब जो कहीं इन के विश्वास और प्राण पर आँच आये ?

पुरु—हाँ, राजकुमार ! तब क्या होगा ?

भद्रबाहु—निरस्त्र पर आघात केकय नागरिक नहीं करेंगे। पिता के पाप का प्रायश्चित पुत्र बराबर करता रहा है। रावण के जीते जी मेघनाद ने उसके पापों का प्रायश्चित कर दिया था। मृत्यु का भय तक्षशिला में छोड़कर मैं यहाँ आया। मातंग के रक्त-तिलक की लाज रखने में मृत्यु को निमंत्रण मुझे दोनों हाथ देना है। इसका अवसर मुझे यवन सेना से मिले या केकय जन से······(**दृढ़ता की मुद्रा**)।

पुरु—बस करो······कुछ न कहो अब प्रियदर्शन ! तुम पर सन्देह करना अग्नि और वितस्ता की पवित्रता पर सन्देह करना होगा। क्यों आचार्य !

विष्णुगुप्त—अपनी देह का भी विश्वास नहीं करते राजन् ! कब क्या रोग हो जाय इस देह में ? राजकुमार भद्रबाहु आपके शत्रु के पुत्र हैं···

पुरु—शत्रु के पुत्र को भी हम बराबर अपने पुत्र का स्नेह देते आये हैं। परीक्षा ले रहे हैं आप मेरी···? (**सन्देह से विष्णुगुप्त को देखना**)।

विष्णुगुप्त—फिर मुझ से क्या पूछना है इसमें। केवल आम्भी के पुत्र ही नहीं हैं यह, तक्षशिला के स्नातक भी हैं यह ·····मातंग के रक्त का तिलक इनके ललाट पर है। अपने पिता के दिये शस्त्र सिन्धु में फेंक कर आप से शस्त्र लेने की कामना इनकी है।

भद्रबाहु—(**राजभवन की ओर देखते हुए**) पारस की दोनों राजकुमारियाँ···करुणा ने एक ही साथ दो रूप धर लिये हैं। क्या कहती हैं दोनों···तब तक हम लोग चुप रहें। बोध हो इन्हें हम लोग इनके स्वागत को पहले से ही उत्सुक हैं।

पुरु—हाँ····· इधर ही आ रही हैं·····एक ही साँचे से ढली दो

पुतलियों-सी·····बेचारी इन कुमारियों पर भी दया नहीं आई, इन्हें भी खींच लाया इतनी दूर, यह यवन !

विष्णुगुप्त—रूप, रंग, काया सब में जैसे एक दूसरी की अनुकृति हैं। तिल भर भी कोई छोटी-बड़ी नहीं। नाम जानते हो, अग्निवर्ण इनके ?

अग्निवर्ण—वह जो दायें है तारा है और दूसरी रजनी। दारयवहु की दोनों रानियों से एक ही दिन दोनों का जन्म हुआ था। पारसपुर के राजभवनों में आनन्द के मेघ बरसने लगे थे। आज इनकी यह दशा है। **(दोनों राजकुमारियाँ सिर नीचे कर भद्रबाहु के पीछे रुक जाती हैं)**।

तारा—**(रजनी को हिलाकर)** पूछो···

रजनी—**(धीमे स्वर में)** नहीं, तुम पूछो···

पुरु—डरो न बेटी। कहो, क्या कहती हो ?

तारा—**(एकटक पुरु की ओर देखकर)** पूरे चार वर्ष के बाद यह शब्द कान में पड़ा।

[दोनों परस्पर कंधे पर सिर रखकर सिसकने लगती हैं]

पुरु—तुम पारसपुर के स्नातक हो, अग्निवर्ण ?

अग्निवर्ण—स्नातक तो मैं तक्षशिला का हूँ। जन्म मेरा सूषा में हुआ। पारसपुर का रहनेवाला मातंग था। पारसनरेश दारयवहु ने हम दोनों को एक ही साथ राज्यकोष से वृत्ति देकर यहाँ आयुर्वेद के अध्ययन के लिए भेजा था। मातंग पहुँच गया होगा अपने स्वामी के पास। हिंसक यवन का वह भाला मुझे लगा होता।

तारा—**(रजनी को छोड़कर खड़ी होती है। उत्तरीय के छोर से अपनी आंखें पोंछकर)** हमारे अभाग से भाई मातंग भी नहीं रहे अब ! **(उसकी देह कांपने लगती है)**।

भद्रबाहु—आप दोनों के भगा ले जाने का अपराध लगाकर हत्यारे यवन ने उनकी पीठ में भाला मार दिया।

रजनी—तालेमी···तालेमी·· तालेमी···**(जैसे उन्माद में)**।

तारा—हाँ ठीक है, बहन ! तालेमी ने मारा होगा।

विष्णुगुप्त—सब से बड़ा हिंसक यह यवन तालेमी है तब ··

भद्रबाहु—सबसे बड़ा दम्भी भी आचार्य ! ट्राय के राजकुमार हेक्टर को जिस यवन ने मारा था क्या नाम था उसका बहन ?

तारा—ऐं·· हाँ एक्कलीस···

रजनी—उसी का वंशज यह तालेमी अपने को कहता है। यवनों में यह सबसे अधिक कुलीन है, इसके कुल का इतिहास सबसे अधिक पुराना है। अलिकसुन्दर भी उससे डरता है। जिस दिन यह तालेमी उसका साथ छोड़ देगा उसी दिन जीयस के क्रोध में यवन सेना जल मरेगी। एक साँस में वह जितना कह ले जाता है।

तारा—बहन आर्त्तकामा का उद्धार तब न हो सका ?

अग्निवर्ण—अब यह सम्भव नहीं है राजकुमारी ! मेरे प्राण देने से भी जो यह हो पाता। महाराज कुरु के कुल का यह कलंक जो मेरे रक्त से भी धुल पाता, पर अब करूँगा क्या ?

तारा—कहूँ मैं, मानोगे ?

अग्निवर्ण—(**प्रसन्न होकर**) हृदय के एक-एक बूंद रक्त से···कण्ठ की एक-एक सांस से।

तारा—हम दोनों को फिर वहीं पहुँचा दो। भाग्य की लीला हम तीनों एक साथ देखें। भागकर दुःख से पिण्ड नहीं छूटेगा। झेलकर देख लें हम कितना गहरा, कितना ऊँचा, कितना दाहक है, हमारी होनी का दुःख।

रजनी—(**अग्निवर्ण के कन्धे पर हाथ रखकर**) उदास मत बनो, दुःख भी न करो भाई, तुम। सुन चुके हो घरों में तुम्हारी मातायें कहती हैं पुरुष का अपना कोई भाग्य नहीं होता। नारी के भाग्य का सुख या दुःख पुरुष भोगता है।

विष्णुगुप्त—क्या कह रही है यह राजकुमारी, अग्निवर्ण ?

अग्निवर्ण—पारस में यही विश्वास है आचार्य ! हार-जीत, सुख-दुःख

सब में कारण नारी मानी जाती है ।

विष्णुगुप्त—यही विश्वास तो हमारा भी है । कर्म की प्रेरणा नारी है इस देश में । ऋषियों ने स्त्री को पुरुष की शक्ति कहा । पारस और भारत की चिन्तनधारा एक रही है ।

तारा— यहाँ भी यही बात है ।

पुरु—हाँ···बेटी ! एक ही पूर्वजों की सन्तान भी हम हैं, दूर तक खोजने पर यह भी मिलेगा ।

तारा—पर आप कृपा कर हमें बेटी न कहें, नहीं तो इस धरती की भी वही गति होगी जो पारस की हुई । हमारा अभाग्य यहाँ भी हमारे साथ है, रजनी ! (**उसका हाथ पकड़कर अलग ले जाती है**) ।

रजनी—कहो··· (**उसके मुँह से कान लगा देती है**) ।

तारा—हम लोग लौट चलें वहीं । हमारे वहाँ रहने से लोलुप यवन परस्पर सन्देह करने लगेंगे । किसी दिन कट मरेंगे वे अपने में जूझकर । हमारी चाहे जो गति हो, पर संसार का भला होगा । ठीक है ?

रजनी—हाँ·· चलो हम वहीं चलें ।

तारा—तो फिर कह दूं महाराज से ?

[**पुरु के निकट दोनों आती हैं**]

पुरु—बेटी कहने में अपमान होता है, तुम लोगों का राजकुमारी ! ठीक है पारसनरेश के अन्तपाल की भी योग्यता मुझ निर्धन में कहाँ है ?

तारा—(**हाथ जोड़कर**) ना···ना·· यह न कहें तात ! नाव से युवराज ने जब हम अभागिनों को उतारा, आपकी आँखों में स्नेह का जल जो उमड़ आया था, उसमें हम दोनों डूबने लगीं । मन का अनुभव वाणी पर आता नहीं·· कैसे कहूँ मैं, नहीं तो···

रजनी—आपको देखते ही पिता का रूप आँखों में झूलने लगा···

तारा—हृदय में उन्हीं के स्नेह की हिलोर उठी···

पुरु—फिर मैं तुम्हें बेटी क्यों न कहूँ···?

तारा—(**भरे कण्ठ से**) हमारा अभाग्य अभी हमारे साथ लगा है ।

और सब चला गया, धन धरती सब···पारसपुर के राजभवन में सोने और रत्नों की जो राशि थी, इन आँखों के सामने लूट ली गई। यवनों ने राजभवन की देवियों को भेड़-बकरियों की तरह घेरकर उपवन के एक कोने में राजभवन के दक्खिन खड़ी कर दिया···

रजनी—विजयी यवन से उसकी ताया ने पूछा, पारसपुर के सोने, चाँदी, रत्न और स्फटिक के भवन उसकी अपनी राजधानी में हैं? उसने कहा नहीं···

तारा—हाय, वह सब न कहो बहन ! नहीं···अरे···

रजनी—विजयी की प्रेयसी उस वारवनिता ने फिर कहा, "अब बनेंगे वहाँ ऐसे भवन···ऐसे भवन, जिसे यवन देवता आश्चर्य से देखेंगे।" विजयी उदास हो उठा। उसकी सांस फूलने लगी और वह बोल उठा, "मेरा जन्म ध्वंस के लिए हुआ है सुन्दरी ! अपने रूप और प्रेम का योग मेरे ध्वंस में दो।"

तारा—चुप रहो ··अब भी चुप हो जाओ। **(शरीर काँपने लगता है, रोएँ फूट जाते हैं)।**

रजनी—ठठाकर हँसी वह रूप की मोहिनी, वैसा भय यम की हँसी में भी न होता होगा। धरती हिली, आकाश रो पड़ा। प्रलय के ठीक पूर्व जो जहाँ रहता है वहीं सन्न हो जाता है, हमारी दशा कुछ वैसी ही थी। **(भय और उन्माद की मुद्रा उसके मुख पर छा जाती है)।**

तारा—रजनी ! रजनी ! हाय ! हाय ! क्या हो गया तुम्हें ? सम्हाले कोई इसे। पारसपुर का अग्निकाण्ड यह अब भी देख रही है।

रुद्रदत्त—**(वेग से प्रवेश कर)** ऐं क्या हो गया ? राजकुमारी ! **(रजनी को दोनों हाथों में थाम लेता है। रजनी का सिर झुककर उसकी छाती पर टिक जाता है)** राजकुमारी मूर्छित हो गईं।

तारा—गिरी·· गिरी···युवराज !

रुद्रदत्त—हाथी की सूंड से फूल की माला नहीं गिरा करती राजकुमारी ! डरो मत।

तारा—जहाँ जन्म लिया हमने, उसी भवन को आँखों से जलते देखा। अग्नि की लपटें, जो वहाँ उठीं, समूचे पारस को लील गईं। सूषा और एकबताना भस्म की ढेरी पहले बन चुके थे। विजयी की सखी हमारे अभाग्य को नहीं जला सकी और सब जल गया। यहाँ आना अच्छा नहीं हुआ, आचार्य ! ताया के निकट रहने पर किसी दिन हमारा यह अभाग्य भी जल जाता।

रजनी—(**चौंककर**) कह दिया बहन !

तारा—तुम न बोलो ! बैठा दें राजकुमार उसे वहीं।

रुद्रदत्त—(**पैर से धरती ठोककर**) इस कड़े पत्थर पर ?

तारा—हमारे अभाग्य से कठोर यह पत्थर नहीं है। पारस के सिंहासन पर लोट-पोटकर खेलने के बाद···ऊँची गति जब नहीं रहती है, नीचे आना ही पड़ता है। यवन विजयी के नक्षत्र आज ऊँचे हैं, हमारे नीचे। जब हमारे ऊँचे थे इस विजयी के पूर्वजों का भी पता नहीं था। (**रजनी वहीं हाथों में सिर थामकर बैठ जाती है**)।

विष्णुगुप्त—हाँ···हाँ··हाँ···तुम्हारे फिर ऊँचे होंगे। सूर्य का उदय और अस्त नित्य होता है।

तारा—देख चुकी मैं ऊँचे नक्षत्रों का संकट। कौन जानता था सम्राट् दारयवहु के नक्षत्र इतने नीचे गिरेंगे ? उनके राज्य और परिवार की यह गति होगी ? आशीर्वाद देना चाहें आप हमारे भले के लिए, तो फिर इतने नीचे नक्षत्रों का आशीर्वाद दें जहाँ कोई न जाने हम कौन हैं। हमारे इतिहास का परिचय किसी को न हो।

विष्णुगुप्त—मणि से आकर का पता चल जाता है, राजकुमारी !

रजनी—कब चलोगी बहन यहाँ से ?

रुद्रदत्त—कहाँ······? (**उद्वेग की मुद्रा**)।

तारा—लौट जायेंगी हम फिर यवन सेना में ·

रुद्रदत्त—ऐं · (**विस्मय और उद्वेग से देखता है**)।

तारा—बड़ी बहन आर्त्तकामा वहीं हैं। उनके साथ सुख-दुःख जो

आयेगा भोग लेंगी। हमारा यहाँ रहना आपके संकट का कारण बनेगा। पारसीक विभव की कालरात्रि हैं हम··· यहाँ भी वही बनने आई हैं।

पुरु—एक बार तुम्हें शरण में लेकर अन्त तक इस धर्म का निर्वाह हम करेंगे। अब इसका फल जो हो।

रुद्रदत्त—इस भूमि से तुम्हें अलग करनेवाला केवल काल है। मनुष्य में यह शक्ति नहीं है। (**कण्ठ भर आता है**)।

तारा—आपका कहीं अमंगल हुआ और हम अभागिनों पर लोगों की उँगली उठी, तब हम किस ओर की होंगी? सोच लें युवराज! (**पुरु की ओर हाथ उठाकर**) महाराज पुरु सोच लें···नाव से उतरते ही जिनसे पिता के स्नेह और विश्वास का बल मिला हमें। (**विष्णुगुप्त की ओर हाथ उठाकर**) आचार्य ने अपने जिन शिष्यों से हमारा उद्धार कराया, उनमें से एक चला गया, दूसरे भाई अग्निवर्ण ये हैं, पत्थर की लीक से सीधे। भाई मातंग की मृत्यु से क्या यह सिद्ध नहीं होता कि जिस की दया हमें मिलेगी, जो हमें स्नेह देगा, उस पर हमारा अभाग्य वज्र बन कर टूटेगा? सब सोच लें आचार्य भी। (**भद्रबाहु की ओर हाथ उठाकर**) गान्धार के राजकुमार······हाँ······भद्रबाहु······आपने अपना नाम बताया था पाँचवीं संध्या को तक्षशिला विद्यापीठ के प्रवेश-द्वार का प्रस्तर तोरण जब हम देख रही थीं यवनराज और उसके सेनापतियों के साथ!

रुद्रदत्त—गान्धार के राजकुमार भद्रबाहु! (**क्रोध में आँखें दहक उठती हैं**)।

भद्रबाहु—हाँ युवराज!

रुद्रदत्त—किस लिए? (**एकटक देखकर**)

भद्रबाहु—समर-यज्ञ में समिधा का एक खण्ड बनने। पिता के कर्म का प्रायश्चित जो हो सके।

रुद्रदत्त—प्रायश्चित का क्षेत्र काशी, प्रयाग है। केकयजन की इस वन-भूमि में इसकी व्यवस्था नहीं है।

पुरु—भद्रबाहु अतिथि है, सौम्य!

रुद्रदत्त—शत्रु भी अतिथि होता है, तात !

पुरु—क्यों नहीं ? शस्त्र लेकर नहीं आये वे । हमारे व्यवहार में इन्हें सन्देह भी नहीं है । अतिथि की परिभाषा दूसरी क्या होगी ? राजकुमारी तारा ! अपनी बहन को लेकर भवन के पीछे उद्यान में चली जाओ, हो सकता है पुत्रवधू वहाँ हों, नहीं तो कोई प्रतिहारी तो होगी ही । ग्रीष्म सदन के सामने प्रियंगु शिला पर इन्हें विश्राम मिलेगा । बीती बातों की स्मृति से इनका चित्त न दुखे ।

तारा—द्वन्द्व युद्ध का भय न हो तो फिर दोनों राजकुमार भी वहीं चलें । (**मुँह फेरकर मुसकराती है**) ।

रुद्रदत्त-भद्रबाहु—(**एक साथ**) हा ···· हा ···हा······हा · ···
(**दोनों हँसते रहते हैं**) ।

पुरु—राजकुमारों के परस्पर समाधान के लिए मैं तुम्हें यहाँ से हटा रहा था राजकुमारी ! और तुमने कुछ ऐसा कह दिया कि मुझे अब ··

तारा—पुरुष जब जहाँ मिलें आँखों में रक्त का रंग भर लें, भौंहें टेढ़ी कर लें, साँस में आँधी और वाणी में वज्र को निमन्त्रण दें ·

रजनी—(**धीमे स्वर में**) नींद में बालक बन जायँ···

[**पुरु और विष्णुगुप्त को छोड़कर सब हँस पड़ते हैं**]

रुद्रदत्त—क्या····· क्या····· कहा···बालक बन जायँ कब ?

तारा—(**रजनी का हाथ पकड़कर**) हाँ, उठो, चलो । धर लो हाथ मेरे कन्धे पर । आप लोग भी चलें युवराज ! जहाँ बस हम दो रहेंगी, उन बातों को छोड़कर और क्या कहेंगी ?

पुरु—ठीक कह रही हो, पुत्री ! तुम लोग चलो उधर । आचार्य को साँय-सन्ध्या करनी होगी । शंकर की आरती का समय मेरा भी हो गया ।

तारा—(**भवन के उत्तर हाथ उठाकर**) उस मन्दिर में । हमें भी प्रसाद मिलेगा ?

पुरु—हाँ·····हाँ ···क्यों नहीं !

[**तारा, रजनी, भद्रबाहु और रुद्रदत्त का प्रस्थान**]

विष्णुगुप्त—वितस्ता के तीर पर चलें हम, अग्निवर्ण ?

अग्निवर्ण—चलें देव !···

[विष्णुगुप्त और अग्निवर्ण का प्रस्थान]

वसन्तसेना—**(प्रवेश कर)** पुजारी मन्दिर में पहुँच गए हैं। आरती का पात्र लेकर देवी चलें ?

पुरु—हाँ प्रतिहारी ! कह दे देवी से चलने को। मैं आ रहा हूँ।

[वैतालिक संध्या के घण्टे बजाते हैं। मंदिर में शंख की ध्वनि। पुरु मस्तक पर दोनों हाथ जोड़कर मन्दिर की ओर बढ़ते हैं।]

[पर्दा गिरता है]

दूसरा अंक

[केकय-नरेश पुरु का वही राजभवन। भवन के दक्षिण भाग के सभा-मण्डप के द्वार दो ओर खुले हैं। नीचे रंगीन पट पर पशु-पक्षियों की आकृति बनी है। मण्डप की रत्नजटित छत बत्तीस खम्भों पर टिकी है। पत्थर की दीवारों पर देवताओं की स्फटिक मूर्त्तियाँ कोरी गई हैं। पश्चिम से प्रवेश करने पर देव-सेनापति स्वामि कार्तिक की मयूर-पृष्ठ पर बैठी वीरमुद्रा मूर्त्ति जिसके दायें हाथ में शक्ति शस्त्र है। दक्षिण द्वार से प्रवेश करने पर होंठों से वंशी लगाये कृष्ण की मूर्त्ति है जिसे सब ओर से गोपी-मूर्त्तियाँ घेरे हैं। दीवारों और खम्भों के शीर्ष भाग में वैदूर्य की पच्चीकारी। इस सभा-मण्डप के मध्य में सिंहासन जिसके ऊपर श्री वितान में मोती और रत्नों की झालर लटक रही है। सिंहासन के दोनों ओर मंत्री और अन्य सभ्यों के भद्रपीठ। दक्षिण के द्वारों से उपवन का दृश्य, जहाँ सरोवर को घेरकर लतागृह बने हैं, दिखाई पड़ता है। पश्चिम के द्वारों से भवन के आगे का पत्थर का चबूतरा और दोनों ओर के घने उद्यान के बीच का राजपथ सिंहद्वार के आगे दिखाई पड़ता है। सिंहद्वार पर लोग बराबर आ-जा रहे हैं। प्रहरी इस समय चार हैं और सबकी आकृति पर सतर्कता के भाव हैं। प्रायः तीन घड़ी दिन चढ़ा है। रजनी कृष्ण की मूर्त्ति को इस तन्मयता से देख रही है कि उसकी साँस का चलना भी जैसे रुक गया है।]

तारा—(दक्षिण के द्वार से प्रवेश कर उसे ध्यान से देखती रहती है) रजनी !

रजनी—(घूमकर उसकी ओर देखती है) हाँ ! (फिर मुँह फेर लेती है)।

तारा—लो, तुम फिर रो रही हो ? (उद्वेग की मुद्रा)।

रजनी—युवराज कब आयँगे ? (धीमे स्वर में)।

तारा—अच्छा, अब समझी। उनके न आने से तुम्हारी आँखें बरस रही हैं। कोई सुनेगा तो क्या कहेगा ? युद्ध करना है उन्हें। तुम्हारे प्रेम में डूब मरने का अवसर अभी उनके पास नहीं है। देह का साँचा भी नहीं बना अभी और युवराज की लगन लग गई। (**व्यंग्य की ध्वनि**)।

रजनी—(**अपने उत्तरीय से आँखें पोंछकर**) मन का साँचा बन गया है बहन ! मार डालो चाहे मुझे पर इस हृदय को क्या करूँ ? तुम उनके साथ हँसती-बोलती रही हो और मैं उनकी परछाईं से भी डरती रही।

तारा—हाँ, डरते-डरते यह रोग भी पाल लिया। मुझे पता न चला और देवी रोहिणी यह बात महीनों से जान रही हैं। कम-से-कम मुझसे तो कह दिया होता।

रजनी—देवी जान रही हैं, महीनों से...? (**उसकी देह गनगना उठती है**)।

तारा—(**सिर हिलाकर**) हाँ...हाँ.. सरोवर के उत्तर स्फटिक शिला पर जो तुम नित्य युवराज का चित्र बनाती हो, देवी बराबर देखती हैं। आज तो तुमने उसे मिटाया भी नहीं। देवी तुम्हारे उस बनाए चित्र पर फूल चढ़ाकर उसी की पूजा कर रही हैं।

रजनी—(**भय में**) अरे ! तो अब क्या होगा ? (**खम्भे का सहारा लेकर**)।

तारा—चुपचाप यहाँ से चल देना होगा। किसी घने-गहरे वन में। इस राजभवन में हम अभागिनों को जो स्नेह मिला, उसका यह प्रतिफल ? सोच लो तुम्हीं। मिलेगा अब देवी का विश्वास हमें ? किस कुलग्न में तुम्हारा जन्म हुआ था रजनी ! हे भगवान् ! यहाँ तो आओ। देखो तो इस खम्भे में अपना रूप। (**उसे खींचकर खम्भे के पास खड़ी करती है और उसके होंठ पर उँगली रखती है**) देख लो यह गेरू का रंग अपने होठ पर। जिस रंग से तुमने चित्र का होठ रँगा था वही रंग है यह। चित्र के ओठ पर अपना ओठ रखकर तुम प्रेम का सुख लेती रही हो।

रोहिणी—(**प्रवेश कर**) क्या कर रही हो, राजकुमारी तारा ? छोड़

दो उन्हें।

तारा—अपना मुँह यह आपको कैसे दिखायेगी ?

रोहिणी—क्या हो गया है उनके मुँह में ऐसा ? चित्र-अंकन की तन्मयता में कहीं गेरू की लीक पड़ गई होगी। किसी का चित्र बनाना पाप नहीं है। **(रजनी का हाथ पकड़कर)** चलो तुम मेरे साथ···

[रजनी फफककर रो पड़ती है]

तारा—चुप रहोगी या···**(आँखें तरेरकर)**।

रोहिणी—इस भवन में शासन का अधिकार केवल मुझे है, राजकुमारी तारा ! भगवान् जो वह दिन ले आयें, विपत्ति के घने-काले बादल जो मँडरा रहे हैं फट जायें, तो मेरे अधिकार के इस क्षेत्र में तुम दोनों का भाग होगा।

तारा—इसीलिए तब···रजनी की कामना को पंख लग गये हैं। आपकी ओर से भी इसे छूट मिल गई है।

रोहिणी—दुःख का बोध जिसे जितना अधिक होता है, उसी मात्रा में स्नेह की चाह भी बढ़ती है। हम लोगों का दोष नहीं है बहन ! हमारी प्रकृति का यही रूप है। **(हँसकर)** कहो, क्या तुम्हें नहीं रुचते वे ?

तारा—यह कैसे कहूँ ? उनके शब्दों में अमृत है, आँखों में शील, और व्यवहार में विनय है।

रोहिणी—तब ? फिर क्या अपराध है, हमारी इन बहन का ?

[रजनी को छाती से लगाकर उसके सिर पर हाथ फेरने लगती है]

रजनी—**(भरे कण्ठ से)** भूल जाओ मेरा अपराध देवी ! कहो ! कह दो कि भूल गई।

रोहिणी—कहाँ अपराध किया तुमने ? कब ? मैं तो नहीं जानती !

रजनी—जब से गये···आँखें सूनी हो गई······कान भी सूने हैं······धरती-आकाश सब सूने हैं······कहीं कुछ नहीं है। क्यों है मेरी यह दशा ? फिर अपराध किसे कहेंगे ? **(उसकी छाती में मुँह छिपाकर)**

रोहिणी—(**तारा की ओर देखकर**) अब तुम कहो राजकुमारी ! तुम्हारे लिए सब कुछ सूना है कि नहीं ?

तारा—(**झेंपकर**) मैं नहीं कहूँगी ।

रोहिणी—नहीं क्यों ? कह दो । शरद् का चन्द्रमा कौन नहीं देखता और वसन्त की वायु किसे प्रिय नहीं लगती ? विस्मय हो रहा है तुम्हें मेरी यह बात सुनकर ? तो फिर सुन लो । जिस दिन भाग्य ने तुम्हें यहाँ भेज दिया, तुम्हें देखते ही—नहीं, अभी देखा नहीं था तुम्हें······ केवल घाट के शिवर में उनके साथ तुम लोगों के उतरने की सूचना मिली मुझे···नाव से तुम दोनों को अपने हाथ से उन्होंने उतारा—यह सब जान लेने पर मेरे नीचे की धरती धँसने लगी थी, तभी मैंने सोच लिया कि मुझे कुछ ऐसा करना होगा जो किसी तरुणी ने न किया हो ।

रजनी—अन्धी गहरी दरार में एक बार लुप्त होकर मैं अब फिर ऊपर आ रही हूँ । युवराज जिस वेश में गये···कन्धे में धनुष, पीठ पर तूणीर, कटिबन्ध में असि, दायें हाथ में भल्ल । (**पश्चिम द्वार की ओर हाथ उठाकर**) उधर वह हँसकर निकले, यह भवन नींव से हिला और घूमने लगा । आँखों के आगे लाल, पीला, हरा, फिर घना-गहरा अन्धकार छा गया ।

रोहिणी—(**उसका मुँह ऊपर उठाकर**) यह भवन नहीं, तुम्हारा हृदय हिला था ।

रजनी—(**मन्त्रमुग्ध होकर**) होगा ! मुझे जैसा लगा, कह रही हूँ । कोई कह देता अभी कि वे आ रहे हैं ।

तारा—तो उसे पारस का राज दे देती ? (**हँसने लगती है**) ।

रजनी—उस राज से बड़ा राज्य मेरे हृदय में है बहन ! हँस लो जितना चाहो । देख लो यह (**बाईं आँख पर उँगली रखकर**) यह फड़क रही है । आ रहे हैं वे !

रोहिणी—इस आँख का क्या सत्कार करोगी ?

रजनी—अंजन लगाऊँगी देवी ! दोनों ओर बाहर तक जिसे देखकर

वे हँसें। (**आँखों में अंजन लगाने का अभिनय**)।

तारा—और बाहर का अपने उष्णीस के छोर से पोंछ दें।

रजनी—उनके पैर के अंगूठे से मैं स्वयं पोंछ लूँगी।

तारा—पुरुष को वश में करने की कला तुम्हीं जानती हो।

रजनी—कहीं सीखी नहीं जाती वह कला। नदी की धार जैसे बह चलती है बिना किसी रोक के—वैसे ही बह चलना होता है बहन! अपने को खोकर ही किसी को पाया जाता है।

तारा—रजनी! (**विस्मय में**) यह सब कहाँ जान गई?

रजनी—(**कृष्ण की मूर्त्ति की ओर हाथ उठाकर**) पारसपुर के राज-भवन की मूर्तियाँ कितनी थीं—एक कोने में जितनी थीं, एक कोने में जितनी रही होंगी उतनी इस सारे मण्डप में नहीं हैं। फिर भी यह एक मूर्त्ति हृदय में इस की जो लहर चला देती है, सब कुछ भूलकर मन रम जाता है इसमें जैसे उसका वहाँ अभाव था। है इन गोपियों को कोई शोक, कोई दुःख, कोई चिन्ता, कोई विषाद? किसी अभाव की छाप इनकी आकृति पर है। गोपाल की इन गोपियों ने मुझे यह सब सिखा दिया।

रोहिणी—(**हँसकर**) और चित्र खींचना किसने सिखाया राजकुमारी!

रजनी—गोपाल की यह मूर्त्ति जो बाहर है, गोपियों के भीतर भी वही है। अपने भीतर किसी की मूर्त्ति मैं जब देखने लगी, चैन कहाँ मुझे, उसे बिना बाहर किये? भीतर के भाव को बाहर करने की क्रिया को ही कला कहते हैं। मन जब तक वश में रहता है यह कार्य कोई नहीं करता देवी!

रोहिणी—क्या कह रही हो?

रजनी—हाँ, यह कार्य विवश होने पर ही हो पाता है। सरोवर की उस शिला तक मैं कैसे जाती थी, उँगलियाँ कैसे चलने लगती थीं उस पर मेरी, मैं नहीं जानती।

रोहिणी—ऐसा ही था तो उस चित्र को मिटा क्यों देती थी?

रजनी—भीतर की अनुकृति नहीं होती थी वह। मन की उस दशा के मिट जाने पर दोनों में भेद देख पड़ता था।

रोहिणी—और आज……

रजनी—आज भेद न होगा। भीतर की मूर्ति जैसी-की-तैसी आ गई होगी उस चित्र में। तभी मन की गति नहीं बदली और उसी तन्मयता में मैं उसे छोड़कर चली आई।

रोहिणी—तब तुम्हारी भीतर की मूर्ति में ही दोष है।

रजनी—(**उद्वेग में**) देवी !

रोहिणी—ऐसी कातर न बनो। चित्र की आँखों में मद का प्रभाव है। यह कहाँ से आया ? सात पीढ़ियों से इस कुल में जिस पदार्थ को किसी ने भी हाथ से न छुआ, उनका प्रभाव उन आँखों में आ जाय ?

तारा—(**विस्मय में**) सात पीढ़ियों से किसी ने नहीं ?

रोहिणी—राजर्षि अश्वपति की सातवीं पीढ़ी में आर्यपुत्र हैं। केवल अपने कुल के लिए नहीं, अपने पूरे जनपद के लिए उनकी घोषणा है।

तारा—क्या है ?

रोहिणी—उन्हीं के शब्दों में कह दूं तब…

तारा—हाँ·· देवी !

रोहिणी—मेरे जनपद में चोर नहीं हैं, कदर्य और मद्यप नहीं हैं, मूर्ख कोई नहीं है, स्वैरी कोई नहीं है फिर स्वैरिणी कहाँ होगी !

तारा—ऐसे लोगों को उन्होंने अपने राज्य से निर्वासित कर दिया होगा ?

रोहिणी—यह भी सम्भव है कि आचरण के प्रभाव में समूचे जनपद में आचार का यह नया युग आ गया हो।

रजनी—मेरे भीतर की मूर्ति में ही दोष है तब देवी !

रोहिणी—आर्यपुत्र ने स्वप्न में भी उस पदार्थ को कभी नहीं देखा है !

रजनी—तब यह मेरे अपने संस्कार का दोष है देवी ! जन्म के

समय पहला पदार्थ जो मेरे भीतर गया पारस की द्राक्षा का सौ वर्ष पुराना आसव था। नवजात शिशु के होंठ और कपोल में रंग लाने के लिए प्रथम पेय यही दिया जाता है वहाँ। पारस की कुलीनता का मान-दण्ड यही है—किस के घर की सुरा कितनी पुरानी है। पारसपुर की अटूट सम्पत्ति के साथ हम से सात पीढ़ी पहले के सम्राट् कुरु के समय की सुरा के कई भाण्ड भी यवन विजयी को मिल गये। आधे भाण्ड उसने अपनी सेना में बाँट दिये और आधे का आधा अपने गुरु अरिस्ता-तल के पास अपने देश भेजकर दूसरा भाग उसने अपनी प्रेयसी ताया के लिए रख लिया। जिस सेनापति को विजय के उपलक्ष में वह उसकी एक घूंट दे देती है वह जैसे सदेह स्वर्ग पहुँच जाता है।

रोहिणी—विजयी यवन का गुरु भी सुरा पीता है ?

तारा—(**मन्द हँसी**) आपको सन्देह हो रहा है देवी ! जो ज्ञान अब तक किसी को नहीं मिला, जिस विद्या का किसी को पता नहीं, वह सब उसकी मुट्ठी में आ जाता है, दूसरी घूंट जहाँ कंठ के नीचे उतरी कि उसकी मुट्ठी खुली और फिर तो जिसे देखना हो विद्या का पर्वत उसकी मुट्ठी में देख ले।

रोहिणी—हमारे तक्षशिला के आचार्यों से अधिक विद्या है उसके पास ?

तारा—हाँ ·· हाँ हाँ ··· तक्षशिला के तीन आचार्य और तीस स्नातकों को विजयी ने अपने गुरु की सेवा के लिए भेज दिया। हमारे सामने की बात है आचार्यों और स्नातकों को जब यवन सैनिक पकड़कर ले आये।

रोहिणी—उस यवन ने उन्हें अपने देश भेज दिया ? (**विराग की मुद्रा**)।

तारा—हाँ · हाँ ·· भेज दिया और यह कहकर कि अब से जितने देश उसकी ध्वजा के नीचे होंगे, वहाँ बस अकेले उसके गुरु की विद्या चलेगी। यवन सागर से पूर्व समुद्र तक सब कहीं विद्या का सूर्य अकेला अरिस्तातल रहेगा।

रोहिणी—शस्त्र भी उसी के और शास्त्र भी उसी के, यही कहना है तुम्हें राजकुमारी !

तारा—हाँ देवी ! समूचे जगत् को अपना पुराना मिटाकर इस नये का स्वागत करना होगा।

रोहिणी—आग लगे उस नये में जो सब को एक लाठी से हाँकने चला है। पता चलेगा उसे इस पार···

वसन्तसेना—(**प्रवेश कर**) युवराज आ गये देवी !

रोहिणी—कहाँ सुना ? अभी नहीं, तीन दिन हैं और उनके आने में···

वसन्तसेना—आँखों देखी बात झूठ है ?

रजनी—कहाँ हैं चलो तो··· (**उत्सुक और आकुल-सी**)।

वसन्तसेना—नदी-तीर···नाव से उतर चुके हैं। अश्वकर्ण अभी दौड़कर आयें हैं। कहिए तो बुला दूँ ?

रोहिणी—हाँ बुलाओ तो···

[**वसन्तसेना का प्रस्थान**]

रजनी—हम लोग यहीं रहेंगी ?

रोहिणी—रुको राजकुमारी ! (**कुछ सोचने लगती है**)।

रजनी—उनके सामने खड़ा होना भी नहीं बनता मुझसे, उनकी ओर देखना तो दूर की बात है।

अश्वकर्ण—(**प्रवेश कर**) युवराज के साथ बहुत लोग हैं। यहीं सभा-मण्डप में सब लोग बैठेंगे।

रोहिणी—कितने लोग हैं ?

अश्वकर्ण—तीन नावें ठसाठस भरी हैं। शस्त्र और आभूषण ऐसे चमक रहे हैं···

वसन्तसेना—कि बादल में बिजली हो।

रोहिणी—चल पड़ी जीभ ? (**क्रोध की मुद्रा**)।

वसन्तसेना—देवी ने पूछा कितने लोग हैं और यह अश्व के कान,

बाल, आभूषण और शस्त्र चमकाने लगे। किसी के नाम और कान का क्या नाता है देवी ?

अश्वकर्ण—तुम्हारा और तुम्हारे इस यवन भाई का क्या नाता है ?

[**फिर सबकी हँसी**]

रोहिणी—भाई-बहन का नाता नहीं जानते तुम प्रहरी ? (**मन्द मुसकान**)।

वसन्तसेना—होगा कोई दूसरा नाता इनका उसके साथ भी···

अश्वकर्ण—यवनों का वह नाता होता है यवनी ! हम केकय हैं, समझीं। देवी का डर न होता तो फिर वह नाच नचाता कि ··

रोहिणी—ले जाओ इसे उस पार ! विजयी यवन के स्कन्धावार में····· फिर तो वहाँ इसे नाचना पड़ेगा ही।

रजनी—युवराज की बोली है यह देवी ! (**ध्यान से कान लगाती है**)।

रोहिणी—दौड़ जा वसन्त ! आरती की सामग्री यहीं ले आ। देखो अश्वकर्ण ! आर्यपुत्र पहले अकेले आएं।

[**वसन्तसेना का प्रस्थान। अश्वकर्ण भी पश्चिम द्वार से निकल जाता है।**]

रजनी—(**आगे बढ़कर पश्चिम के द्वार से**) युवराज दुबले हो गये हैं। माघ में सिंह की देह जैसे कृश हो जाती है।

तारा—अंजन क्यों नहीं लगा आती ?

रजनी—भला चलो इतनी दया कर दो तुम। पर नहीं, इसमें सहायक तुम न बनोगी।

रोहिणी—आरती आने दो राजकुमारी ! तारा न करें पर मैं तुम्हारी सहायता करूँगी। जो न मिले मुझसे······उसके लिए इनसे हठ करो।

रजनी—बहन, माँगने पर बस एक वस्तु देंगी ?

रोहिणी—हाँ····· क्या ?

रजनी—मृत्यु देवी ! (**धरती पर लेटकर दोनों हाथ फैलाकर मृत्यु का अभिनय करती है**) ।

रुद्रदत्त—(**प्रवेश कर**) ऐं······क्या हो रहा है यह देवी ! (**स्तब्ध हो उठता है**) ।

रोहिणी—राजकुमारी मृत्यु का अभिनय कर रही हैं आर्यपुत्र ! इनकी बहन बड़ी कृपा करेंगी तो माँगने पर इन्हें मृत्यु दे देंगी।

तारा—जी हाँ··· · इसका यमराज मुझे बनना पड़ेगा ।

रुद्रदत्त—यमराज पुरुष है ! राजकुमारी !

तारा—उसकी पत्नी या बहन तो होगी ।

रुद्रदत्त—पत्नी होती तो यह काम नहीं करता वह । तब तो उसके भीतर भी अनुराग और अनुकम्पा होती । उसकी बहिन का नाम यमी है ।

तारा—तब वही यमी मैं हूँ । चलिए, अब उठाइए इसे । इसी लाभ के लिए इसका यह अभिनय है ।

रुद्रदत्त—कोई श्रम नहीं पड़ेगा मुझे इसमें । समझूँगा वीणा उठा रहा हूँ । (**दोनों हाथों से उठाते हुए**) ह···ह ह···वीणा भी इससे भारी होती है !

तारा—कोई दूसरी उपमा तब दे डालिए । (**मन्द हँसी**) ।

रुद्रदत्त—पारिजात की माला या सरोवर की कमलिनी । (**रजनी के सिर पर हाथ रखकर**) सीधे खड़ी रहो । (**रजनी की देह डोल उठती है**) ।

तारा—काँप रही है युवराज, वह ।

रजनी—(**लजाकर**) हुँ, कहाँ··युवराज दुबले हो गये हैं । (**साँस रोककर**) ।

रुद्रदत्त—तुम भी तो पीली पड़ गई हो । (**रोहिणी की ओर देखकर**) राजकुमारी अस्वस्थ थीं ?

रोहिणी—वही सृष्टि का पहला रोग···अनुराग का पहला स्पर्श······जब इस धरती को छोड़कर कहीं चले जाने का मन होता है···एकान्त में बैठकर जब लोग अनजाने किसी का चित्र बनाया

करते हैं, किसी के कहीं चले जाने से जब आँखें सूनी हो जाती हैं—कान सूने हो जाते हैं· धरती-आकाश सूने हो जाते हैं· कहीं कुछ शेष नहीं बचता ।

रुद्रदत्त—(**असमंजस में**) नारी के मन की बात ब्रह्मा भी नहीं जानते, मैं किस खेत की मूली हूँ ।

रोहिणी—(**मन्द हँसी**) अपने वे दिन अब भूल गये हैं । (**सोने के पात्र में आरती लेकर वसन्तसेना का प्रवेश । रजनी का हाथ पकड़कर**) लो, यह आरती करो राजकुमारी !

रजनी—पहले आप, देवी !

रोहिणी—जल्दी करो । चित्र बनाती रहीं तुम और पहले आरती करूँ मैं । (**रजनी आरती करने लगती है**) सिर झुकाइए आर्यपुत्र ! (**रुद्रदत्त सिर झुकाता है**) हाँ, अब ठीक । अब ललाट तक पहुँच रही है आरती ! (**रजनी के हाथ काँपते हैं । आरती-पात्र गिरने को होता है । रोहिणी झपटकर एक हाथ से पात्र पकड़ लेती है । दूसरे हाथ से उसका कन्धा हिलाकर**) हाँ, कहो ! आर्यपुत्र की जय !

रजनी—(**गद्‌गद्‌ कंठ से**) आर्यपुत्र की जय !

तारा—हाँ···हाँ···हाँ यह आपने क्या कहला दिया देवी ?

रोहिणी—अब तुम लो । आरती करते-करते तुम भी यही कह दो ।

तारा—(**आरती करती हुई**) मुझे इतनी जल्दी नहीं है अभी । जय हो देव !

रोहिणी—(**तारा के हाथ से आरती लेकर रुद्रदत्त के मस्तक के चारों ओर घुमाने लगती है । फिर आरती का पात्र नीचे रखकर उसके सामने जल गिराकर**) आर्यपुत्र की जय हो ! सरोवर तक चलें देव ! रजनी बहन आपका चित्र बनाती रही हैं, जिस वेष में आप गये थे उसी वेश में । पिछले नौ चित्र तो आप मिटाती गईं, आज का चित्र अभी है ।

रुद्रदत्त—तब नित्य मेरा चित्र बनता रहा है ?

रोहिणी—हाँ···नित्य···

रुद्रदत्त—इसीलिए यह राजकुमारी सूख गई हैं। अनुराग और कला दोनों का समय एक ही होता है। जिस पेड़ में फूल समय से पहले आ जाते हैं उसके फल अच्छे नहीं होते। यह सब देवी की प्रेरणा से हो रहा है !

रोहिणी—मेरी प्रेरणा से ? (**भौंहें टेढ़ी करती है**)।

रुद्रदत्त—(**रोहिणी की ओर देखकर**) बनावटी क्रोध का दूसरा नाम परिहास है। (**रजनी का कंधा पकड़कर**) अभी-अभी इन राजकुमारी के मुँह में आर्यपुत्र शब्द किसने रख दिया ?

रोहिणी—स्वयंवर से अधिक इस कुल में गन्धर्व की प्रथा है। (**मुँह फेरकर मन्द हँसी**)।

रुद्रदत्त—देवी पाँच युवों की माता बन गई होतीं और मैं अभी युवा रहता तब इसका प्रयोजन होता। पर अभी···

रोहिणी—फिर इस राजभवन में इन राजकुमारियों का सहारा क्या होगा ? जगत् के सबसे बड़े राजा की कुमारियाँ हमारी दया पर कितने दिन चलतीं ? युद्ध की भेरी बजने के पूर्व यह हो गया, अच्छा हुआ। राजकुमारी तारा यह अवसर छोड़ बैठीं।

तारा—मैं रजनी बहन की प्रतिहारी बनकर रहूँगी। (**गंभीर ध्वनि में**)।

रोहिणी—और तुम्हारे राजकुल की मर्यादा ? (**एकटक देखती हुई**)।

तारा—उसे देखकर, जानकर मैं इस निर्णय पर पहुँची हूँ। अकेले तात की जितनी रानियाँ थीं, किन देशों और किन जातियों की, हर नौरोज पर जिनकी संख्या बढ़ती जाती थी, जो परस्पर एक दूसरे की बोली भी नहीं समझ पाती थीं। उस मर्यादा की बात मुझसे न पूछिए। अपनी माताओं की संख्या मैं नहीं जानती। यही दशा सामन्तों और सेनापतियों की थी जिनके अन्तःपुर रमणियों से भर गये थे। देख चुकी हूँ मैं उस व्याधि को, उसमें स्वयं न पड़ूँगी।

रोहिणी—ठीक कह रही हो, अपनी-अपनी रुचि है। (**विरक्ति का भाव**)।

तारा—पुनि ए, मुझे क्या करना है? इस युद्ध तक आप लोगों की छाया बनकर मुझे रहना है। यवन-बाढ़ जो केकय से टकराकर पीछे हटी तो महाराज जिस वीर को चाहें मुझे सौंप दें। मैं सुख से उसका वरण करूँगी या नहीं तो माता भैरवी की सेवा करूँगी।

रोहिणी—अब समझी राजकुमारी! परसों जो वह यहाँ आईं तुम पर मन्त्र मार गईं।

तारा—नारी का मन्त्र नारी पर नहीं चलता! उनकी आयु अभी केवल तीस वर्ष की है। पुरुष बिना उनका चल गया, मेरा भी चल जायगा। कैसे निभेगा यह···सो वह बता देंगी।

रुद्रदत्त—आपका संकल्प पूरा हो राजकुमारी। मैं आपकी भावनाओं का आदर करता हूँ। पर जो संयोग से किसी पुरुष को भाग्यशाली होना हो आपको पाकर, तो उसमें क्या गुण हों? कहीं मेरे मित्रों में कोई वैसा निकल जाय।

तारा—(**भाव-विभोर-सी**) बीस से लेकर पचास तक उनकी आयु चाहे जो हो। कोई दूसरी पत्नी न हो उन्हें जो केवल मेरे पुरुष बनें। धन के नाम पर दो हाथ हों उनके बस!

रोहिणी—उस अनजाने पुरुष के लिए भी आदर के भाव राजकुमारी के मन में हैं। (**मन्द हँसी**)।

तारा—अपने पुरुष के लिए आदर का भाव लेकर हम जन्म लेती हैं देवी!

रुद्रदत्त—(**रजनी के सिर पर हाथ फेरकर**) तब अपनी इन बहन को आप छोड़ जायँगी कुमारी?

तारा—पारसपुर में भी हम साथ तो रहतीं नहीं। किसके पति का घर कहाँ होता कौन जाने? संयोग से कभी भेंट हो जाती सो दैव ने चाहा तो यहाँ भी होती रहेगी। चलें, युवराज इसका चित्र देख लें।

रुद्रदत्त—आप लोगों के साथ यहाँ युद्ध का संकट भूल गया मैं। मण्डलों के चुने हुए वीर यहाँ आ रहे हैं। सभा-मण्डप में ही हम लोग युद्ध की योजना पर विचार करेंगे। विजयी यवन के दूत बनकर निषद के राजा शशिगुप्त दोपहर तक पहुँच जायेंगे। वसन्तसेना !

वसन्तसेना—जी···आज्ञा···

रुद्रदत्त—अश्वकर्ण से कह दो, इस मण्डप में और आसन लगा दिये जायँ। अधिक नहीं तीन-चार और भद्रपीठ। थोड़े लोग यहाँ बैठेंगे। चलें राजकुमारी का चित्र देखें, कैसा बना है ?

[**वसन्तसेना का प्रस्थान**]

तारा—अब राजकुमारी उसे न कहें। सबके सामने देवी कही जाने का अधिकार अब उसका है। अकेले में जहाँ और कोई न हो जो चाहें, कह लें। यह तो उस शब्द की आकर्षण की बात होगी जो आपके हृदय को जीत लेगा।

रुद्रदत्त—(**दक्षिण के द्वार से निकलकर चलते हुए**) ठीक तो है, इसकी शिक्षा आप दे दें इन नई देवी को, मैं तब क्या कहूँगा ?

तारा—सिखाई बात उस समय भूल जायेगी युवराज ! (**मन्द हँसी**)।

[**रुद्रदत्त और रजनी हँस पड़ते हैं। रजनी ठिठककर रह जाती है।**]

रुद्रदत्त—(**रजनी के कन्धे पर हाथ रखकर**) चलो, अपना चित्र दिखाओ अब······(**आग्रह की मुद्रा**)।

तारा—न हिलना बहन, जब तक युवराज देवी न कह दें।

रजनी—(**भौंहें टेढ़ी कर तारा की ओर देखती है**) उस चित्र में दोष है। क्या देखकर ·····

रुद्रदत्त—यह समूची सृष्टि जिसकी चित्रपटी है, उसके चित्र में भी आँखवाले दोष देख गये तो फिर हमारे चित्र में दोष न आना ही दोष होगा।

रजनी—इस लतागृह में मैं जा रही हूँ तब तक आप लोग देख

आयें ।

रोहिणी—लजा रही हैं रजनी बहन ! इनकी चोरी पकड़ी गई है ।

रजनी—(**चारों ओर हाथ घुमाकर**) तब तो इस समूची चित्रपटी का चित्रकार भी चोर होगा !

रुद्रदत्त—अब ठीक ! देवी समझ रही थीं···।

तारा—तब चलतीं क्यों नहीं ?

रजनी—औरों के लिए वह कौतुक है······मेरा प्राण बहा है उन रेखाओं में (**रोहिणी का हाथ पकड़कर**) उसे देखकर मेरे मन की वही दशा हो जायेगी बहन, तब मुझे सम्हालना पड़ेगा ।

रोहिणी—अब क्या डर है पगली ! सम्हालनेवाला साथ जो है । मूर्छा भी सुख का कारण वनेगी, किसी के अंक का अमृत मिलेगा ।

रजनी—रुक जाओ यहाँ अब····· एक बात सुन लो !

रोहिणी—(**ठिठककर**) कहो···

रजनी—आँखों में मद का प्रभाव नहीं है वह । मेरी आसक्ति का रंग है वह। चित्र में मेरा हृदय आसक्त है। अनासक्त होता तो आँखों में वह भाव नहीं मिलता । कला में आसक्ति का दोष है वह देवी ! मेरे अपने हृदय की आसक्ति आर्यपुत्र की आँखों में झाँक रही है !

[**सब आड़ में चले जाते हैं**]

नेपथ्य में—जय हो !··· महाराज पुरु की जय हो !··· जय हो !······जय हो ! ·····

[**अश्वकर्ण एक ओर प्रहरी के साथ सभा-मण्डप में भद्रपीठ रखता है । पुरु, विष्णुगुप्त, भद्रबाहु, अग्निवर्ण का प्रवेश ।**]

पुरु—आसन ग्रहण करें आचार्य !

विष्णुगुप्त—बैठिये देव ! पहले आप । समय-कुसमय इतना अधिक आदर देकर आप मुझे लज्जित करते हैं ! आयु का सम्मान पहले होना चाहिए ।

पुरु—बालक ब्राह्मण भी वृद्ध क्षत्रिय से श्रेष्ठ है। जिसके चरण

का चिन्ह विष्णु के वक्ष का शृंगार है।

विष्णुगुप्त—ब्राह्मण का वह युग बीत गया, नहीं तो मगध का राजदण्ड शूद्र के हाथ में न होता और न तो कात्यायन और वररुचि की मेधा शूद्र की सेवा में लगती। सिंहासन पर आइये। (**सिंहासन के दायें भद्रपीठ पर बैठते हैं। पुरु सिंहासन पर और भद्रबाहु बायें के भद्रपीठ के सहारे खड़े होते हैं। अग्निवर्ण अभी पश्चिम के द्वार के निकट हैं**) बैठ जाओ प्रियदर्शन भद्रबाहु ! अग्निवर्ण, तुम भी बैठो। तक्षशिला का विद्याभवन नहीं है यह, जहाँ आचार्य और शिष्य के आसन में भेद होगा।

[**भद्रबाहु और अग्निवर्ण सिर झुकाकर पुरु के बायें दो भद्रपीठों पर बैठते हैं।**]

पुरु—यवन सेना वितस्ता के उस किनारे अपना स्कन्धावार खड़ा कर रही है। देख चुके आप सब छोर घूमकर······

विष्णुगुप्त—देख लिया राजन् ! देश के दिन अभी बुरे हैं। यवन भूमि के नगर राज्यों में भी परस्पर सन्देह, वैर और अविश्वास ऐसा ही था।

पुरु—अब क्या हो ? केकय को अपनी विपत्ति में अपने ही बल पर खड़ा होना होगा।

विष्णुगुप्त—लक्षण तो यही है। कहते सभी हैं कि हम आ जायँगे। पर कब ?

पुरु—प्रलय का शृंगीनाद जब हो चुकेगा। उसके पहले नहीं। देवी विजया जो केकय पर प्रसन्न हुईं तो सभी मित्र होंगे। नहीं तो इस समय तो सब ओर शत्रु हैं, आचार्य ! सब ओर।

विष्णुगुप्त—धरती फोड़कर कोई अरिस्तातल यहाँ निकल आता और मिल जाता उसे कोई अलिकसुन्दर।

पुरु—समय आने पर आप अरिस्तातल तो बन जायँगे।

विष्णुगुप्त—सूर्य और दीपक का अन्तर है देव !

पुरु—(**विस्मय में**) ऐसा ? वह भी मनुष्य है।

विष्णुगुप्त—छोटे से यवन देश में पौरुष और मेधा का मंत्र फूंककर सभ्य जगत के गौरव-शिखर पारस को भूमिसात् करनेवाला अरिस्तातल केवल मनुष्य नहीं है देव ! कुछ और है वह। कुछ ऐसा विशेष जिसकी शक्तियों का मानदण्ड अभी हमें नहीं मिला।

पुरु—कभी मिलेगा भी कौन जाने !

विष्णुगुप्त—मिलेगा अवश्य। इस धरती का वह दिन जब आये।

पुरु—अभिसार के टूटने से हमारा संकट अब उत्तर से भी है।

विष्णुगुप्त—केकय की सेना कहाँ-कहाँ लड़ेगी ···इसीलिए तो ·····

पुरु—आचार्य आपकी नीति में कई प्रसंग एक साथ चल रहे हैं।

विष्णुगुप्त—(**चौंककर**) नहीं समझा देव !

पुरु—अच्छा तो फिर सुनिये। अभिसार से सौवीर तक उत्तर-दक्षिण सिन्धु से यमुना तक पश्चिम-पूर्व के समूचे सप्तसैन्धव प्रदेश में जो हमारे बीसों जनपद बसे हैं विजयी यवन सबका संहार करे।

विष्णुगुप्त—अग्निवर्ण इस समय तुम अतिथि भवन में जाओ। (**भद्रबाहु की ओर देखकर**) और कुमार !

भद्रबाहु—मैं भी जा रहा हूँ आचार्य ! (**आसन से उठता है**)।

पुरु—कुमार भद्रबाहु को मैं शस्त्र दे चुका हूँ। युवराज में और इन में अब मेरे मन में भेद-बुद्धि नहीं है।

विष्णुगुप्त—युवराज रुद्रदत्त से भी मैं इस समय यही कहता।

पुरु—तब कोई बात नहीं। चले जाओ कुमार ! (**दक्षिण की ओर हाथ उठाकर**) इन स्नातक को भी ले जाओ। तुम अपने घर में हो, अतिथि नहीं बनना है तुम्हें। युवराज वहीं मिल जायँगे।

[**भद्रबाहु और अग्निवर्ण का दक्षिण द्वार से प्रस्थान**]

विष्णुगुप्त—इस समय हमारा मतभेद या अविश्वास तक्षशिला के आचार्यों और स्नातकों के सारे किये-कराये पर पानी फेर देगा। युवराज भी न जानें कि हमारी आँखों में अब अन्तर आ गया है।

पुरु—हाँ कहिये······कोई नहीं जानेगा।

विष्णुगुप्त—परस्पर की लाग-डाट में जनपद जब मिलकर एक शक्ति नहीं खड़ी करेंगे तो मैं चाहूँ या न चाहूँ यवन साम्राज्य की टक्कर में इन्हें गिरना ही होगा।

पुरु—इन्हें मिलकर एक साथ आप खड़े भी न होने देंगे।

विष्णुगुप्त—आधार इसका······?

पुरु—कम्बोज के पश्चिम और दक्षिण के वीर इस संख्या में अभिसार में आ गये हैं कि उधर देखने का साहस भी विजयी यवन न करेगा। यह कहा था आपने ?

विष्णुगुप्त—हाँ······

पुरु—और केकय की दस सहस्र सेना जो सहायता में अभिसार जा रही थी चार योजन निकल जाने पर आपने लौटा दिया।

विष्णुगुप्त—धूर्त यवन कहीं इधर टूट पड़ता ?

पुरु—वितस्ता पार कर लेना इतना सरल न होता। कहीं पार कर लेता तो हम पीछे हट जाते और अभिसार की सेना दूसरा तट रोक लेती।

विष्णुगुप्त—आम्भी चुप बैठता ?

पुरु—निश्चय। काठ की हाँडी आग पर एक बार चढ़ती है। जिस आचरण के विरोध में पुत्र खड़ा हो गया, प्रजा उसका साथ देती, इस में तिल भर भी विश्वास मुझे नहीं है। अभिसार के मार्ग से लौट आई हमारी सेना— इसका प्रभाव और जनपदों पर घातक पड़ा है। हमारा विश्वास इस एक घटना से चला गया। किसी दूसरे को दोष देने के पहले हमें अपना मुँह दर्पण में सौ बार देखना पड़ेगा।

विष्णुगुप्त—अभिसार के युद्ध में हमारे दो सौ स्नातक मारे गये हैं, महाराज !

पुरु—दो सौ यहाँ भी मारे जायँगे, पर फल क्या होगा ? जनता में पौरुष और धर्म का मन्त्र फूंकना था जिन्हें, बिखरी शक्तियों को बटोरना था, वे अकारण जूझ मरे।

विष्णुगुप्त—अभिसार अभी टूटा नहीं है। उत्तर के पर्वतों में लोग चले गये हैं। स्नातकों के युद्ध से यवन-सेना जान गई है कि यहाँ की धरती जीतकर भी यहाँ के निवासियों की आत्मा वे न जीत सकेंगे। गृहदेवियाँ पहाड़ों में पहले ही भेज दी गई थीं। छान डाली गई बीस कोस की धरती, पर एक भी तरुणी किसी यवन सैनिक के देखने में नहीं आई।

पुरु—जानता हूँ मैं यह सब ··

विष्णुगुप्त—(**विस्मय में**) जानते हैं···

पुरु—हाँ आचार्य ! भद्रबाहु के साथ वेश बदलकर उस युद्ध का दृश्य देखा था मैंने अपनी आँखों। यवनों की दो गुल्म सेना अभिसार के सैनिक दाबकर कोस भर पीछे ले गये थे पर पता नहीं कि कहाँ से तिरछे काटकर उनका तीसरा गुल्म अभिसार की पीठ पर आ पड़ा। इनके रोकने की शक्ति होती·· ·· केकय की शक्ति तीन सहस्र सेना भी पूरी पड़ी होती और तब यह जगत-विजयी हमारा बन्दी होता। हमारे पूर्वजों की स्वर्ग में श्री बढ़ी होती।

विष्णुगुप्त—आप की सेना इस तीसरे गुल्म की बाट जोहती होती या अभिसार की सेना में मिलकर उस समय लड़ती होती ?

पुरु—फिर भी जो खेद मुझे इस समय है तब न होता।

विष्णुगुप्त—तब आप मुझे शत्रुचर समझ सकते हैं।

पुरु—(**दोनों कानों पर हाथ**) नारायण····· नारायण ·····

विष्णुगुप्त—यवन संसर्ग से दूर रहने के लिए, भरतभूमि की मर्यादा के अनुरूप जाति के धर्म की ध्वजा नीचे न आये, इस चिन्ता में मैं इस अग्नि में कूदा था। नहीं तो मुझे राजा नहीं बनना है। विद्यापीठ बन्द करने में केवल दो आचार्य मेरे साथ रहे। शेष यही कहते रहे कि शिक्षक और छात्र का राजनीति से क्या काम।

पुरु—फिर विद्यापीठ बन्द करने का निर्णय कैसे हुआ ?

विष्णुगुप्त—देश और विदेश के भी स्नातक एक साथ भवन से

बाहर निकल गये दावाग्नि में वन के जीव जैसे निकल भागते हैं। संसार जीतकर भी यवन-विजयी तक्षशिला के इस गौरव से श्रीहीन रहेगा। अभी कुछ नहीं बिगड़ा है राजन् ! दूध की मक्खी-सा आप मुझे दूर फेंक सकते हैं। विष्णुगुप्त की यह देह जिस धरती की धूल से बनी है, वह धरती बड़ी है इसमें।

पुरु—आवेश में नहीं आचार्य ! मित्र की तीखी बात भी स्नेह से सुनी जाती है। आपके प्रति सन्देह लेकर चलने से अच्छा है दो बातें स्पष्ट कर लेना। यह अधिकार आप मेरा रहने देंगे ?

विष्णुगुप्त—सदैव··· युवराज के मन में सन्देह मेरे प्रति आया पहले।

पुरु—आपके उद्देश्य के प्रति नहीं, केवल आपकी सूझ के प्रति।

विष्णुगुप्त—देख रहा हूँ महाराज मैं अब ! आपकी सेना के लौट आने से जनपदों में सन्देह अवश्य बढ़ा होगा।

पुरु—सूचना मिल चुकी है मुझे, दक्षिण और पश्चिम के जनपद मुझे भी आम्भी के आसन पर बैठा रहे हैं। पर जो बीत गया उसकी चिन्ता ·····आगे की सुधि लेनी है।

विष्णुगुप्त—इस युद्ध में यह अपवाद धुल जायगा।

पुरु—मृत्यु से डरनेवाला हर दिन और हर रात सौ बार मरता है और जो नहीं डरता वह मरकर भी अमर रहता है। राजर्षि अश्वपति के कुल का बालक भी इतनी बात जानता है। यमराज के महिष के कण्ठ की घण्टी भी मुझे उतनी ही प्रिय लगेगी···

विष्णुगुप्त—कितनी महाराज ? (**मन्द हँसी**)।

पुरु—आप अब भी ब्रह्मचारी हैं, आप क्या जानेंगे !

विष्णुगुप्त—इस विद्या के आचार्य आप ही बन जाइये।

पुरु—तब मैं कहूँगा कि आप विवाह कर लीजिए। बिना पत्नी के जो राजनीति में उतर जाता है वह दूसरों का घर फूंकता है। डर से किसी की उँगली उस पर न उठे, पर जानते सभी हैं उसका रहस्य।

विष्णुगुप्त—मेरे अनुरूप कन्या भी तो कहीं हो ?

पुरु— छोड़ दीजिए मुझ पर……(**सोचकर**) एक कन्या है ऐसे जो मिल जाय।

विष्णुगुप्त—स्वर्ग की उर्वशी तो नहीं……

पुरु—वह अब बूढ़ी हो गई होगी। जिस कन्या की मैं कह रहा हूँ उसे देखकर उर्वशी को अपना वह रूप भूल जायगा, जिसका सम्मोहन पुरुरवा पर चढ़ा था।

विष्णुगुप्त—इतनी देर में तो उसका कुल, गोत्र, रूप, रंग, आकार और आयु सब मैं जान गया होता।

पुरु—किसी अच्छी उपज की गाय की बात तो आप नहीं सोच रहे हैं ?

विष्णुगुप्त—हा··हा···हा·· पत्नी के नाम पर फिर कर दीजिए एक गो-दान !

पुरु—आम्भी किसी तरह मान जाता, और किसी में न सही, इस एक काम में सहायता कर देता।

विष्णुगुप्त—भेज दीजिए मुझे दूत बनाकर। यवनराज के दूत बनकर शशिगुप्त आ रहे हैं, उनके साथ मैं आपका दूत बनकर चला जाऊँ ?

पुरु—वचन दीजिए, बिना कार्य किये न लौटेंगे।

विष्णुगुप्त—कार्य बताने के पहले वचन ले लेंगे ?

पुरु—कह दूँ···मन पर अंकुश लगा लीजिए। मत्त कुञ्जर-सा कहीं मार्ग न छोड़ दे।

विष्णुगुप्त—बाल पक रहे हैं बस आपके, नहीं तो मन अभी···

पुरु—फिर भी मैं आपसे पन्द्रह वर्ष आगे हूँ। अपने मन से सचेत होकर सुनिये। यवन स्कन्धावार में आपको वह कन्या मिलेगी। विजयी यवन की वह प्रेयसी ताया।

विष्णुगुप्त—जी नहीं, जहाँ उसे ले आया, आप मुझसे पन्द्रह वर्ष

पीछे आ जायेंगे। ठीक उसी आयु में जिसमें इस समय यवन विजयी है।

पुरु—हो रहा है साहस···

विष्णुगुप्त—उसके या उसके प्रेमी के डर से नहीं। आपका डर हो रहा है मुझे। फिर यह ब्राह्मण किस घाट का पानी पीयेगा ?

[**रुद्रदत्त और भद्रबाहु का प्रवेश**]

भद्रबाहु—शशिगुप्त आ गये। साथ में दो यवन सेनापति हैं।

पुरु—आप बैठे रहिए आचार्य ! यवन-दूत का मैं स्वागत करूँ।

[**पुरु का पश्चिम के द्वार से प्रस्थान**]

रुद्रदत्त—मुझे भी आना है तात ?

पुरु—(**द्वार के बाहर से**) हाँ वत्स ! शत्रु के साथ भी शील निभाना होता है। दूत के प्रति तो आदर होना ही चाहिए।

[**रुद्रदत्त का प्रस्थान**]

भद्रबाहु—क्या सोच रहे हैं आचार्य ?

विष्णुगुप्त—कुछ विशेष नहीं राजकुमार ! शशिगुप्त ने मेरे विषय में कुछ पूछा ?

भद्रबाहु—आपके विषय में नहीं। पर मेरे विषय में बहुत-कुछ पूछते रहे।

विष्णुगुप्त—महाराज पुरु को आपने अपना शस्त्र गुरु बनाया है, इसकी सूचना तक्षशिला में मिल चुकी है।

भद्रबाहु—यह सूचना तो शशिगुप्त को आपने अभिसार में स्वयं दी थी आचार्य ! वह बात आप भूले न होंगे। फिर अज्ञ बनकर पूछ क्यों रहे हैं ? (**विस्मय से देखता है**)।

विष्णुगुप्त—शशिगुप्त ने कहा यह ?

भद्रबाहु—शशिगुप्त से बातें करते आपको अभिसार में मैंने अपनी आँखों देखा था। महाराज ने भी देखा। क्या बातें आपकी उनसे हुईं, यह भी सुना हम दोनों ने !

विष्णुगुप्त—राजकुमार ! (**एकटक देखकर**)।

भद्रबाहु—मैं रहस्य बनने का साहस नहीं करूँगा। आपका हम लोगों के साथ विश्वास चलना चाहिए या अविश्वास। आप एक साथ दोनों चला रहे हैं। इस देश के किसी भावी विजयी के लिए आप सम्भवतः भूमि बना रहे हैं।

विष्णुगुप्त—और तब मैं अरिस्तातल बनूंगा ?

भद्रबाहु—जी हाँ, इसके अनेक प्रमाण हम लोगों को मिल चुके हैं।

विष्णुगुप्त—हम लोगों में और कौन हैं ?

भद्रबाहु—महाराज पुरु ! समुद्र में लहरें न उठीं इसका अर्थ यह नहीं है कि जल उथला है। महाराज पुरु को आप जितना सीधा समझ रहे हैं, उतने सीधे नहीं हैं वे। आपकी नीति के एक-एक तार को चीरकर वे देख चुके हैं फिर भी आपके साथ शील नहीं तोड़ते।

विष्णुगुप्त—हा······ हा······हा······शस्त्र की विजय का युग चला गया राजकुमार ! अब यह युग मेधा की विजय का है। सुदूर यवन देश में बैठा एक मनस्वी यवन-ध्वजा को एक भूखण्ड से दूसरे भूखण्ड पर बढ़ाता चला जा रहा है। किसी दिन जगत के दूसरे छोर पर वह ध्वजा लहरायेगी यदि मेधा का उत्तर मेधा से न दिया गया। साम्राज्यों के परकोटे गिरते गये। पारस की विशाल वाहिनी को मुठ्ठी भर यवनों ने धूल चटा दिया। पारस की राज्य-लक्ष्मी यवनों की दासी बन गई। इस सारे काण्ड में अरिस्तातल की शक्ति काम कर रही है। अलिकसुन्दर निमित्तमात्र है केवक निमित्त···

भद्रबाहु—उसी निमित्त को आप खोज रहे हैं। वह जब मिल जायगा आप अरिस्तातल बन कर रहेंगे।

विष्णुगुप्त—उस दिन इस देश पर आक्रमण करने का कोई साहस न करेगा। भारत के मानचित्र तब इतने शक्तिहीन, हेय जनपद और राज्य-विभाग न रहेंगे।

भद्रबाहु—अभिसार में विजयी यवन के शिविर में भी आप गये थे ?

विष्णुगुप्त—हाँ······ गया था।

भद्रबाहु—इसकी सूचना आपने महाराज को नहीं दी। कोई साँप होता है आचार्य ! जिसके दोनों ओर मुंह होता है। आपकी राजनीति भी दो मुंहवाली है।

विष्णुगुप्त—देखो राजकुमार ! तुम्हारे सामने उत्तरदायी नहीं हूँ मैं। तुम्हारे महाराज के सामने भी नहीं। मेरा दायित्व देश और देश के सामने है। गान्धार, अभिसार, केकय, कठ, सौभूति, सौवीर और अनेक ऐसे जनपदों के रूप में नहीं सोचता मैं। मेरी भावना उस विशाल भारत की मूर्त्ति है जिसके चरण समुद्र धो रहा है, हिमालय जिसका किरीट है, विन्ध्य जिसकी मेखला है, पूर्व और पश्चिम के समुद्र-तट जिस की भुजायें हैं। मेरे आचरण में तुम सन्देह करो। जिस दिन यह सारा देश राष्ट्र-शरीर का रूप ले लेगा उस दिन···

भद्रबाहु—हाँ, उस दिन···(**विवशता का भाव**)।

विष्णुगुप्त—उस दिन इस विष्णुगुप्त की स्मृति से जन-जीवन को बल और पौरुष मिलेगा। सूर्य को निकलते और डूबने तुम नित्य देखते हो, राजकुमार !

भद्रबाहु—जी······तब···

विष्णुगुप्त—उसके निकलने और अस्त होने का काल निश्चित है। ठीक मध्यान्ह का सूर्य कभी नहीं डूबेगा।

भद्रबाहु—हाँ····· हाँ······इसमें सन्देह किसे होगा ?

विष्णुगुप्त—विजयी यवन इस समय मध्याह्न का सूर्य ·····आकाश के मध्य विन्दु के सूर्य-सा उसका तेज तप रहा है···नीचे उतरते-उतरते उसके अस्त का समय आ जायगा। उसका अस्त देखना है मुझे !

भद्रबाहु—तब तक तो वह भारत की धरती को रौंदकर पूर्व समुद्र तक चला जायँगा, जिसे वह जगत का छोर समझता है, समुद्र में जहाँ गंगा मिली है।

विष्णुगुप्त—जहाँ तक चला जाय लौट न सके, हमें यही देखना है। अपने गुरु का मुंह वह फिर न देखे, जिस भूमि का यश उसके सैनिक गा

रहे हैं, मृत्युकाल में उस धरती की शरण उसे न मिले।

भद्रबाहु—यह स्वप्न है तो बड़ा रोचक आचार्य ! पर घटेगा कैसे ?

विष्णुगुप्त—स्वप्न मानकर चलने पर घटने की बात नहीं आती। पर हमारा संकल्प सहायक हो तो यह घटकर रहेगा। मान लो जब वह गंगा पार कर पूर्व की ओर बढ़े, उसी समय इधर हम सिन्धु का मार्ग उसके लिए रोक दें। पश्चिम की सहायता उसको न पहुँच पाए। अरि-स्तातल का मंत्र उसे न मिल पाये। इस अवधि में देश की चेतना जाग उठेगी। जाल में पड़ी मछली की तरह वह अन्तर्वेद में घिर जाएगा। फिर हम उस जाल को समेटते जायँगे ·· बटोरते जायँगे····· (**भाव में सिर हिलाने लगता है**)।

[बातें करते-करते पुरु और शशिगुप्त का प्रवेश। शशिगुप्त की आयु प्रायः पेंतीस वर्ष, लम्बा गौर आकर्षक शरीर। काले-लम्बे बाल कन्धे पर लटक रहे हैं। लम्बी बरौनियाँ, नुकीली भौंह, अधिकार की मुद्रा। रुद्रदत्त गम्भीर विचार में शशिगुप्त के पीछे प्रवेश करता है।]

पुरु—आसन ग्रहण करो, भद्र !

[सिंहासन के बायें भद्रबाहु के भद्रपीठ पर शशिगुप्त बैठता है। भद्रबाहु और रुद्रदत्त दो भद्रपीठ आगे की ओर खींचकर बैठते हैं, जिस में सिंहासन के आगे बैठनेवालों का अर्द्धवृत्त-सा बन जाता है। पुरु विष्णुगुप्त की ओर संकेत करता है।]

पुरु—दो उधर से आगे खींच दो, दोनों यवन भी आयेंगे।

रुद्रदत्त—नहीं····· धरती उलट जाय, आकाश के चन्द्र-सूर्य पृथ्वी पर गिर पड़ें, पर केकय-जन विजयी का यह प्रस्ताव नहीं मानेंगे। जब तक युद्ध नहीं हुआ हम कैसे मान लें कि यवन-सेना अजेय है।

शशिगुप्त—दारयवहु की ओर से युद्ध में लड़ा था मैं। यम्नों के लम्बे भल्ल और अश्व-संचालन का कौशल···

पुरु—केवल विजय के लिए युद्ध नहीं किया जाता भद्र ! मृत्यु के लिए भी युद्ध किया जाता है। फल की चिन्ता छोड़कर हमें कर्म भर

करना है । वितस्ता के पूर्व की भूमि को जीतकर विजयी मुझे दान कर देगा। उसका दान ग्रहण कर अपने पाप का भागी अपने पूर्वजों को भी मैं बनाऊँगा। महाराज आम्भी ने जो काम किया वही अब मुझे करना है।

भद्रबाहु—कितनी बार कहा आपसे महाराज शब्द का प्रयोग उनके लिए मत कीजिए। विजयी यवन के दास हैं वे।

शशिगुप्त—यवन-दूत बनकर मैं आया हूँ फिर भी जाति और धर्म के गौरव की कामना मेरे मन में भी है। पूर्व के लिए वह केवल मार्ग माँग रहा है। भिड़ जाने दो इसे शूद्र नन्द की सेना से······विष की औषध विष बने। नन्द की इससे जब टक्कर हो हम इधर की शक्तियों को बटोरकर इसके विरूद्ध शंख फूंक दें। सिन्धु का मार्ग ऐसा बन्द करें कि गरुड़ भी न आ पाये इधर। तक्षशिला के स्नातक गाँव-गाँव में घूम कर इसके लिए जनता को तत्पर कर रहे हैं।

रुद्रदत्त—(**ऊँची साँस लेकर**) केकय की धरती यवनों के पैर पड़ने से कलंकित हो, इसके पहले हम इस धरती से उऋण हो जायँगे।

शशिगुप्त—आचार्य !

विष्णुगुप्त—महाभारत के युद्ध का आदर्श इस यवन के साथ चलाया जा रहा है। समर की मृत्यु जब सूर्यमण्डल को भेदकर अक्षय स्वर्ग देती थी। यह नहीं सोचा जा रहा है कि उस समय जीतनेवाले भी इसी जाति और इसी धर्म के होते थे। विजय-लक्ष्मी के साथ-ही-साथ देश के धर्म का भार भी वे अपने कन्धों पर ढोते थे। देवियों के धर्म पर आँच नहीं आती थी, वर्ण और आश्रम की व्यवस्था टूटने नहीं पाती थी। सिन्धु में उस पार की हमारी धरती कुछ दिन पारस के अधिकार में रही पर इन नियमों में दरार उस समय भी न पड़ी।

पुरु—इसीलिए यह प्रस्ताव और भी अमान्य है। इसमें अब तर्क-वितर्क का अवसर नहीं। कह देना यवनराज से भद्र ! केकय-जन उनकी राह वितस्ता के तट पर देखेंगे। कह देना केकय के निवासी त्रिलोक के

राज्य के लिए अपना धर्म न छोड़ेंगे। कह देना पुरु अपनी इच्छा से कुछ नहीं कर सकता, अपने जन का सेवक है वह। जन समिति ने निर्णय किया है कि सोलह वर्ष के ऊपर पचास वर्ष तक की अवस्था के सभी पुरुष यवन सेना का स्वागत करेंगे (**रुद्रदत्त की ओर देखकर**) जन समिति का निश्चय यही है वत्स !

रुद्रदत्त—हाँ तात ! केकय परिषद् का यही निश्चय अमोघ है। हर ग्राम और हर मण्डल के तरुण यवन-सेना के आलिंगन के लिए वैसे ही अधीर हैं जैसे···

विष्णुगुप्त—प्रेमी प्रिया के आलिंगन के लिए अधीर होता है। यही कह रहे थे युवराज ?

रुद्रदत्त—हाँ आचार्य ! शत्रु के प्रति भी हमारे तरुणों का आकर्षण कुछ वैसा ही है। अभी क्या कहूँ ? उस दिन देख लेंगे आप।

शशिगुप्त—आचार्य ! अब क्या होगा ?

विष्णुगुप्त—देख तो रहे हो भद्र ! जो होना है। फल की चिन्ता छोड़कर जहाँ कर्म करना है वहाँ जय और पराजय दोनों एक हैं।

शशिगुप्त—यवनराज को आप वचन दे चुके हैं।

पुरु—किस बात के लिए आचार्य ? (**विस्मय की मुद्रा**)।

विष्णुगुप्त—अभिसार के युद्ध के बाद (**शशिगुप्त की ओर संकेत कर**) इनकी प्रेरणा से मैं यवन विजयी से मिला था।

पुरु—(**गम्भीर स्वर में**) हाँ···तब···

विष्णुगुप्त—सुनने से पहले भौंह टेढ़ी न करें महाराज ! अहंकारी यवन की टक्कर नन्दराज से होने दें। इसके लिए यवनराज को मैं वचन दे चुका हूँ···

पुरु—जल्दी कहें, क्या वचन है वह······(**साँस रोक लेते हैं**)।

विष्णुगुप्त—यवन सेना को पूर्व की ओर निकल जाने का मार्ग आप दे देंगे। इस सहायता के लिए विजयी यमुना और वितस्ता के बीच की भूमि पर आपका अधिकार स्वीकार करेगा।

पुरु—यवन ध्वजा के नीचे। अपना आश्रित अन्तपाल बनायेगा वह मुझे ? आप इसके लिए वचन दे आये ? नन्दराज शूद्र है, फिर भी इसी देश का है। क्षत्रिय राज्यों का संहार करनेवाला, पर ब्राह्मण विद्या का उन्नायक भी है वह। यह यवन क्षत्रिय और ब्राह्मण दोनों को एक ही कोल्हू में पीस देगा। (**शशिगुप्त की ओर देखकर**) कहो भद्र ! धर्म को साक्षी मानकर कहना...

शशिगुप्त—पारस की ओर से युद्ध में पूरे पन्द्रह दिन मैं अपने सैनिकों के साथ लड़ता रहा। सम्राट् दारयवहु की आत्महत्या के बाद जब पारस का सूर्य डूब गया तो विवश होकर यवनराज के साथ मुझे सन्धि करनी पड़ी। युद्ध के नियमों का पालन मैं कर रहा हूँ। फिर भी आपके साथ विश्वासघात का, छल का, पाप मैं न लूंगा।

पुरु—मलेच्छ यवन की विजय चाहते हैं ?

शशिगुप्त—कर्मयोगियों की भूमि में जन्म लेकर महाराज ? कह क्या रहे हैं आप यह ? दैव जानता है, वितस्ता में बाढ़ आ जाती और चाहे इनके साथ मैं भी डूब जाता।

पुरु—सत्य में जिसकी निष्ठा है, शपथ उसके लिए नहीं है। सोच लो।

शशिगुप्त—सोच लिया है। मेरा विश्वास भी नहीं करता वह। मेरे पूर्वपुरुषों की भूमि निषद पर उसने एक यवन सेनापति बैठा दिया है और मुझे गान्धार के उत्तर का शासन देनेवाला है। करना यह है कि इस भूमि से एक भी यवन जीवित न जाय।

पुरु—अच्छी बात है, तब तुम उसे द्वन्द्व युद्ध के लिए तैयार करो। मेरे साथ उसका कोई एक सेनापति या कई बारी-बारी से समर करलें। वितस्ता पार करने का रूप ठीक वही न हो जो सिन्धु पार करने का रहा है। कोई ऐसी युक्ति जिसमें इस वीर जाति का धर्म न मिटे।

शशिगुप्त—वितस्ता के बीच में अलिकसुन्दर आपसे मिल सकेगा। इतना मुझे वह बता चुका है। आपके सामने वह जीयस और एथनी की शपथ लेने को तैयार है।

पुरु—अश्मक दुर्ग के सामने भी उसने शपथ ली थी। दुर्ग के बाहर जब अश्मक पुरुष अपने बालक और नारियों को लेकर निकले, उसने उन असहायों पर आक्रमण कर दिया।

शशिगुप्त—वितस्ता की मध्य धारा में आप असहाय न रहेंगे। केवल दो सैनिकों के साथ अपनी नौका पर वह रहेगा और अपनी नौका पर दो सैनिकों के साथ आप रहेंगे। दिन में किसी समय जब आप चाहें'''दूर तक कोई दूसरी नौका न रहने पायेगी।

रुद्रदत्त—मैं जाऊँ उससे मिलने तब''

शशिगुप्त—यवन-भूमि से चलकर मिस्र, पारस, इतनी दूर की भूमि रौंदकर वह यहाँ तक पहुँच गया, पर (**पुरु की ओर संकेत कर**) महाराज के बाएँ खड़ा होनेवाला भी पुरुष अभी उसके देखने में नहीं आया। इस तेजस्वी, दृढ़ और लम्बे शरीर का आतंक छा जायगा उस पर। उसके अपने देश को छोड़कर शेष पृथ्वी पर कायर बसते हैं, उसकी यही धारणा रही अब तक। मिस्र और पारस में उसकी इस धारणा को और भोजन मिला। वाल्हीक के पूर्व पग-पग पर उसे पता चल रहा है कि वीरता अकेले उसी की जाति के भाग में नहीं पड़ी है।

विष्णुगुप्त—तक्षशिला का एक-एक स्नातक उसके लिए भूत बन गया है। मारे भय के यवन सैनिक रात भर सो नहीं पाते।

शशिगुप्त—इतना ही नहीं आचार्य! माता जैसे बालक को सुलाती है, उसकी प्रेयसी ताया उसकी पीठ पर सारी रात थपकी देती रहती है, तब कहीं थोड़ी देर के लिए उसकी आँख लगती है। शिविर के चारों ओर सैनिकों की दीवार खड़ी रहने पर भी।

पुरु—अरे हाँ भद्र! पारसपुर, सूषा और एकबताना के भवनों को ताया ने अपने हाथ से जलाया था?

शशिगुप्त—अलिकसुन्दर से व्यंग्य में उसने पूछा कि भारत जीतकर विजयी वैसे ही भवन अपनी भूमि में बनवायेगा—वैसे ही रत्नजटित और मूर्त्ति-मण्डित? विजयी ने उदास होकर कहा, उतनी सम्पत्ति उसके

पास कभी न होगी और न तो उसके जीवन में वैसे भवन सम्भव हो सकेंगे।

पुरु—ऐसा···

शशिगुप्त—निश्चय ! कुरु के हाथों उनकी नींव पड़ी और उसकी पाँचवीं पीढ़ी में आकर दारयवहु प्रथम के समय वे भवन पूरे हुए। संहार की आँधी पर चढ़कर चलनेवाला निर्माण का सुख नहीं पाता।

पुरु—तब ·· **(उत्सुक हो उठते हैं)**।

शशिगुप्त—**(हँसकर)** हा हा···आप इतने उत्सुक हैं ! उस रूप की मोहिनी की भौंह टेढ़ी पड़ गई, आँखें चक्र की गति में नाच उठीं। गहरी साँस लेकर वह बोल उठी, 'मेरे विजयी की शक्ति जहाँ हार जाय, उसे इस धरती पर न रहने दूँगी।' फिर उसने भभक उठनेवाले तेल के लुकार बनवाये और पहला लुकार सब जगह वह लगाती रही। शेष काम इस अग्निदाह का यवन सैनिक कई दिन तक करते रहे।

पुरु—कह देता कोई उस ज्वालामयी से, उसका प्रेमी समुद्र नहीं बना सकेगा, उसे सोख ले, धरती नहीं बना सकेगा, उसे पाताल में भेज दे; पर्वत नहीं बना सकेगा, उन्हें चूर कर उड़ा दे। उसके प्रेमी की शक्ति के बाहर जितना हो सब मिट जाए।

[**दोनों यवन सेनापतियों का प्रवेश। चौंककर सब ओर देखते हैं दोनों। दोनों के सिर पर पीतल के शिरस्त्राण, कटि के ऊपर उनके अंगरखे और घुटने तक अधोवस्त्र।**]

शशिगुप्त—**(विष्णुगुप्त के निकट भद्रपीठों की ओर संकेत कर)** आसन ग्रहण करें। आप यवन देश के सबसे बड़े शस्त्र विशारद ओलम्पिक व्यायाम क्रीड़ा के प्रसिद्ध वीर टिथोनस हैं, और आप कई युद्धों के विजयी नियरकम हैं **(बारी-बारी दोनों की ओर संकेत कर)** दोनों वीर यवनराज के प्रसिद्ध सेनापतियों में हैं।

पुरु—बैठो भद्र ! सुरा का सेवन इस जनपद के निवासी नहीं करते। सत्कार में यह कमी रह गई।

[**दोनों बैठते हैं**]

टिथोनस—(**मुसकराकर**) तब तो वे प्रेम भी नहीं करते होंगे। रण के नाम से ही उनके रोयें फूट जाते होंगे। (**शशिगुप्त की ओर तिरछी आंख से देखता है**)।

[**विष्णुगुप्त, पुरु, भद्रबाहु और रुद्रदत्त साथ ही हँस पड़ते हैं**]

नियरकस—अरे! सुरा न पीनेवाले भी यहां हँसना जानते हैं, टिथोनस! अपने यहां कोई यह बात न मानेगा, सुरा और सभ्यता जहां एक ही देह की दो आंखें मानी जाती हैं। सुरा और रूप का रस पारस के लोग जानते थे। ऊँ...हूँ ..सिन्धु के इस पार सभ्यता नहीं है। (**सिर हिलाने लगता है**)।

विष्णुगुप्त—उसी रस में पारस डूब भी तो गया।

टिथोनस—ऐं? किस रस में ..... (**विस्मय की मुद्रा**)।

पुरु—सुरा और रमणी के रूप-रस में सैनिक! नहीं तो पारस के शस्त्र कभी तुम्हारे अपने देश में भी चमके थे। हमारे धनुष के बाणों से तुम्हारा इतिहास लिखा गया था।

टिथोनस—सुन चुका हूँ वह सारा इतिहास। तब हम लोग नहीं थे। हमारा नेता अलिकसुन्दर नहीं था। उसी के उत्तर में हमारा नया इतिहास मिस्र, पारस और अब इस देश की धरती पर लिखा जा रहा है। पश्चिमी समुद्र से चलकर हमें अब पूर्व समुद्र तक पहुँचना है।

नियरकस—(**विष्णुगुप्त का कन्धा हिलाकर**) क्यों जी तुम ब्राह्मण हो? डेल्फी के पुरोहित-सी भविष्यवाणी तुम भी करते हो?

पुरु—खींच लो उनके कन्धे से हाथ सैनिक! बड़ों के प्रति व्यवहार नहीं आता तुम्हें? तुम्हारी भाषा में बड़ों के सम्बोधन के शब्द नहीं हैं? बड़े-छोटे सब के लिए बस एक ही शब्द तुम...

टिथोनस—नियरकस सेनापति हैं, केवल सैनिक नहीं।

पुरु—सैनिक और सेनापति का भेद तुम जानते हो भद्र! पर बड़े और छोटे का नहीं। जन्म, मृत्यु और युद्ध—समानता के यही

तीन अवसर हैं।

नियरकस—उपदेश लेने हम यहाँ नहीं आये राजन् !

पुरु—(**गम्भीर स्वर**) तब······(**गम्भीर मुद्रा**)।

टिथोनस—तक्षशिला के आम्भी की भाँति केकय पुरु को भी हमारा मित्र बनना होगा।

रुद्रदत्त—और वितस्ता का मार्ग खोल देना होगा, क्यों दूत ! (**व्यंग्य की मुद्रा**)।

नियरकस—हाँ···सूर्य किसी से मार्ग नहीं माँगता······उसके तेज में सब की आँखें बन्द हो जाती हैं।

रुद्रदत्त—दूत के मुँह से शील और विनय के शब्द निकलते हैं, दम्भ के नहीं।

टिथोनस—हाँ या ना, दो में एक कहो राजकुमार ! सिन्धु के किनारे तुम्हारा यह ज्ञान कहाँ था ?

पुरु—(**शशिगुप्त की ओर देखकर**) मुझे कहने दो भद्रबाहु ! तुम चुप रहो। जिनके संस्कार में शील और विनय न हो, उनसे इसकी आशा भी तुम्हें नहीं करनी है। बिना सुरा के जिनका प्रेम नहीं जागता और बिना सुरा के जो युद्ध नहीं करते······(**टिथोनस की ओर देखकर**) प्लातो और अरिस्तातल की विद्या से भी तब सुरा की गन्ध आती होगी दूत ! क्यों ? (**भद्रबाहु क्रोध में लाल हो रहा है**)।

शशिगुप्त—(**हाथ उठाकर**) बस कुछ न कहना टिथोनस ! तुम दोनों मेरे सहायक हो। इस कार्य में यवनराज ने मुझे प्रधान बनाया है।

नियरकस—(**विष्णुगुप्त की ओर देखकर**) क्या इन्होंने विजयी को विश्वास नहीं दिलाया कि वितस्ता का मार्ग बिना लड़े खुल जाएगा और महाराज पुरु हमारे मित्र बनेंगे ?

पुरु—आचार्य ! (**विस्मय की मुद्रा**)।

विष्णुगुप्त—जी···हाँ सत्य कह रहा है दूत ! सुरा-सेवी नहीं हूँ मैं, पर सुरा-सेवा अरिस्तातल के चरण-चिन्हों पर चलने का संकल्प मैं कर

चुका हूँ । यवनराज ने उस दिन जो मुझे अपने गुरु का चित्र दिखाया, यवन शस्त्र के नीचे यवन संस्कृति के विश्वव्यापी प्रचार का गम्भीर संकल्प चित्र की उन आँखों में था। अरिस्तातल का वह चित्र रूप मेरे हृदय से तब तक नहीं निकलेगा जब तक······देशद्रोही मैं नहीं हूँ। अपने धर्म और जन्मभूमि के गौरव की शपथ है मुझे······तक्षशिला के बन्द कपाट कभी खुलेंगे। मेरे आचरण के विचार करनेवाले दूसरे होंगे महाराज !······वे जिनका जन्म अभी नहीं हुआ है तब आप नहीं रहेंगे······मैं भी नहीं रहूँगा। अरिस्तातल को मैं गुरु मान चुका हूँ, इतनी दूर से···एकलव्य ने द्रोणाचार्य को जैसे गुरु बना लिया था। इस समय अब कुछ और नहीं कहना है। इस देश का भाग्य जो अनुकूल रहा तब तो विजयी यवन वितस्ता, शतद्रु और यमुना पार कर जायेगा।

[**विष्णुगुप्त का पश्चिम द्वार से प्रस्थान**]

पुरु—आचार्य के ललाट पर अदृष्ट की लिपि नाच रही है, तो फिर वही हो। ब्राह्मण के संकल्प के सामने क्षत्रिय की वीरता सिर झुकाये। स्वीकार है मुझे। यवनराज से वितस्ता की आधी धारा में मैं मिलूंगा ! (**टिथोनस की ओर देखकर**) कुल कितने सेनापति हैं तुम्हारी सेना में राजदूत ?

टिथोनस—मेधावी अरिस्तातल से अपना भेद और अपनी संख्या बताने की आज्ञा नहीं मिली थी।

पुरु—(**मुसकराकर**) अच्छी बात ! पारसपुर के राजभवन से चुनकर तीस सुन्दरियाँ तुम लोगों के लिए हरण की गईं।

नियरकस—हा हा · हा (**वेग की हँसी**) तीस ! तीस से क्या होता ? उनकी संख्या पूरी सौ है ?

पुरु—(**मुसकराकर**) यवनराज ने उनमें एक-एक सुन्दरी से अपने सभी सेनापतियों को पुरस्कृत किया है ?

टिथोनस—पारसीक सुरा का एक घट, साथ उठाकर ले चलने भर रत्नों के हार और आभूषण भी।

पुरु—ठीक भद्र ! तब इस लेखे से कुल सेनापति सौ हुए । ठीक कह रहा हूँ ?

नियरकस—अरे·· नहीं···नहीं·· मैं···कुछ नहीं कहूँगा। (**टिथोनस क्रोध में उसकी ओर देखता है**) ।

पुरु—कोई बात नहीं; सौ, दो सौ, तीन सौ, जितने हों, सभी सैनिक सेनापति हों····· फिर भी कोई बात नहीं । यवनराज जिस सेनापति से चाहे मुझे द्वन्द्व युद्ध का अवसर दें। मेरे हार जाने पर वितस्ता का मार्ग खुल जायगा।

रुद्रदत्त—तात······(**उद्वेग की मुद्रा**) ।

पुरु—रुको प्रियदर्शन ! सब कुछ नहीं जानते हम । ठीक है, ब्राह्मण देशद्रोही नहीं होगा और न इसके लिए तक्षशिला के कपाट बन्द हुए । फिर आचार्य विष्णुगुप्त ने विजयी को इधर बढ़ने का वितस्ता, शतद्रु और यमुना पार करने का निमंत्रण क्यों दिया ? विष भी कभी अमृत बन जाता है।

भद्रबाहु—हूँ···तो सिन्धु के तट पर जो कर्म हुआ, वितस्ता के तट पर भी वही होगा।

पुरु—ठीक उसी रूप में नहीं । द्वन्द्व में मुझे हराकर ।

टिथोनस—तो वह यहीं हो जाय ! (**पश्चिम के द्वार की ओर हाथ उठाकर**) किस शस्त्र से ? असि या भल्ल······

नियरकस—नहीं टिथोनस ! यह लाभ मुझे दो ।

शशिगुप्त—तुम दोनों अभी पच्चीस के नीचे हो । महाराज को पचास पार हुए भी कई वर्ष हो गये। इस अवस्था के दर्शक भी तुम्हारे उस कौतुक में नहीं जाते······ओलम्पिक के मैदान में जहाँ तुम्हारे देश के तरुण शरीर और शस्त्र के कौतुक दिखाते हैं ।

टिथोनस—पिछले ओलम्पिक में विजय की ध्वजा मेरे हाथ में थी और सूषा के पत्थरों पर मेरी विजय के चिन्ह बने हैं।

पुरु—तुम्हारे हथौड़े के······तुम्हारे अग्निकाण्ड के चिन्ह हैं वे

यवनदूत ! विजय का अर्थ केवल संहार नहीं होता···निर्माण के अंकुर जब तक फूटें उससे। क्रोध से काँप रहे हो तुम। द्वन्द्व की बात कहकर तुम्हारे अभिमान को ठेस दी है मैंने। समझ रहा हूँ। तुम दोनों मेरे अतिथि हो इस समय। घर आये शत्रु के लिए यहाँ आसन ऊँचा है। आयेगा वह दिन जब तुम दोनों एक ओर और मैं अकेला। सिंह और बन्दर······

टिथोनस—क्या··· क्या ·····सिंह और बन्दर कैसा ?

शशिगुप्त—महाराज कह रहे हैं कि बन्दर कौतुक चाहे जितना कर ले, सिंह के सामने टिकेगा नहीं, कूदकर किसी डाल पर बैठ जायेगा। **(मन्द हँसी)**।

नियरकस—फिर हम लोग बन्दर हैं और यह सिंह ? **(क्रोध में सिर हिलाता है)**।

पुरु—नहीं भद्र ! शरीर से तुम भी वही हो जो हम लोग। स्वभाव तुम्हारा बन्दर का है और तुम्हारे तरुणों के कौतुक वैसे ही हैं जैसे वन में बन्दर कौतुक करते हैं।

टिथोनस—सावधान······**(क्रोध में पैर पटकता है)**।

शशिगुप्त—हें··· ··हें······**(उसकी ओर देखकर)** इस जाति के संस्कार में व्यंग्य और विनोद नहीं है महाराज ! इनसे बात बढ़ाने में कोई लाभ मैं नहीं देखता।

पुरु—**(मन्द हँसी)** अच्छी बात है। **(दोनों यवनों की ओर देखकर)** क्रोध न करो दूत ! **(हँसने लगते हैं)** यही देख रहा था मैं कि शब्द की चोट कितनी सह लेते हैं यवन विजयी। कितने धीर हैं वे। फूल मारने वाले पर भी तुम अपने लम्बे भल्ल मारोगे।

टिथोनस—शत्रु से हँसी नहीं करते हम।

पुरु—**(विनोद में चारों ओर देखकर)** पर तुम्हारा यहाँ शत्रु है कौन ? मैं तुम्हारा शत्रु नहीं हूँ और न मेरे ये दोनों राजकुमार हैं। **(रुद्रदत्त और भद्रबाहु की ओर संकेत कर)** तुम्हारी अवस्था का कोई भी

तरुण मुझे अपनी ओर वैसे ही खींचता है जैसे ये दोनों। (**शशिगुप्त की ओर देखकर**) क्यों भद्र ! मेरी अवस्था के कितने सैनिक हैं विजयी की सेना में ?

शशिगुप्त—(**हँसकर**) एक भी नहीं महाराज ! तीस के ऊपर न कोई सैनिक है न सेनापति।

पुरु—तब इस यवन विजय में केवल मिस्र, पारस और शेष सभ्य संसार का ही नाश नहीं हुआ अपितु यवन देश भी संहार के गर्त में जा रहा है।

टिथोनस
नियरकस }—हा···हा···हा यह कैसे ? (**फूटकर दोनों हँस पड़ते हैं**)।

पुरु—(**गम्भीर होकर**) हँसने की बात नहीं·····चिन्ता की बात है यह राजदूत ! तुम्हारे सैनिकों के जन्म देनेवाले अभागे···पिता जीते रहेंगे और तुम लोग मर जाओगे ! जनक के जीवन काल में पुत्र की मृत्यु ? तुम्हारी विश्व-विजय के इस दारुण फल को सोचकर रोये फूट गये, देख लो ! (**खुली बाँह आगे बढ़ा देते हैं**) देख रहे हो ? यही मेधा है तुम्हारे अरिस्तातल की ? जिसके शिष्य इतनी दूर से तक्षशिला के आचार्य विष्णुगुप्त बन गये ? पारस के राजभवन से तुमने एक साथ इतनी तरुणियों का हरण किया, तुम्हारे अपने देश की कुमारियाँ क्या होंगी ?

टिथोनस
नियरकस }—(**विस्मय और चिन्ता में**) क्या एँ···

पुरु—इसका उत्तर तुम्हारे पास नहीं है। इस दृष्टिकोण से न तो तुमने कभी सोचा और न कभी इस दृष्टिकोण से देखा। शस्त्र के बल से संसार जीतनेवाले अपनी सभ्यता भी न बचा सके। यवन सभ्यता के पूर्व की सभ्यता में असुर, मिस्र और पारस कितने मिट गये, उनके ढाँचे पुरावृत्त के किनारों पर छितराये पड़े हैं, अपनी विजय-यात्रा में तुम लोगों ने उन हड्डियों को देखा होगा, जिनके ऊपर कभी माँस, रक्त, त्वचा,

रंग और रूप का सम्मोहन रहा होगा। पारस से असुर सभ्यता की जो गति हुई···यों पारस के उठने के पहले ही उसमें घुन लग गया था···वही गति कभी तुम्हारी भी होगी, पर किसके हाथों·· हम यह नहीं जानते।

टिथोनस—हा···हा···हा···हमारे तेज का सूर्य इस समय आकाश के मध्य विन्दु पर है, वह कभी डूबेगा इसका भय हम नहीं मानते।

[**नेपथ्य में कोलाहल**]

पुरु—(**उठते हुए**) देखें तो···

भद्रबाहु—हम लोग देखते हैं तात ! क्या है यह ?

पुरु—अभियोग, अपराध यहाँ नहीं होते फिर यह···

रुद्रदत्त—यहाँ के निवासियों में यह कलह नहीं है। अब समझा। यवन सैनिक पकड़े गये होंगे।

टिथोनस—क्या··· (**क्रोध और उद्वेग की मुद्रा**)।

रुद्रदत्त—हम लोग अभी लौटकर कहते हैं, आओ भाइ।

[**दोनों का प्रस्थान**]

पुरु—क्या बात हो रही थी ?

टिथोनस—(**मुसकराकर**) हमारा सूर्य कभी न डूबेगा।

पुरु—सृष्टि के नियम में सूर्य भी नहीं रहता है। नित्य डूबते देखते हैं उसे हम। तुम्हारे देश में स्वतन्त्र नागरिकों की संख्या में स्त्रियाँ अधिक हैं। इन युद्धों में पुरुष मरेंगे। स्त्रियों की संख्या और बढ़ेगी, और फिर उनका संसर्ग तुम्हारे उन दासों से बढ़ेगा जिनके अंगों पर तुम्हारी कशा के चिह्न पड़े हैं और तब तुम्हारे तेज का सूर्य डूब जायगा।

नियरकस—(**कानों पर हाथ रखकर**) हम नहीं सुनते यह सब···

पुरु—तीखी औषधि रोगी नहीं चाहता। कितने पुत्र हैं तुम्हारे ?

नियरकस—अभी······पूर्व समुद्र के तट पर जो हमारी ध्वजा गड़ेगी······इसी राह लौटकर जब मैं अपने देश पहुँचूंगा और डेल्फी की भविष्यवाणी जिस···

अग्निपुष्प—हा·· हा···कहो न इसमें लज्जा क्या है ? (**फिर हँसता**

है। टिथोनस सिर फेर लेता है)।

पुरु—क्या बात है भद्र ? तुम तीनों समझ रहे हो केवल मैं···

शशिगुप्त—डेल्फी के मन्दिर का पुजारी जिस तरुणी की भविष्य-वाणी करेगा उसी से नियरकस का विवाह होगा।

पुरु—या सुरा के रंग में जिसका रंग मन पर चढ़ जायगा उससे ?

शशिगुप्त—उसके लिए पुजारी को धन देकर पहले से हाथ में कर लेना होगा।

पुरु—(**गम्भीर स्वर में**) हूँ···पर यह लौटकर जायँगे, यही कैसे कहा जाय ? दया आ रही है मुझे इस विश्व-विजय पर, जिसके कारण भावी पीढ़ी का पथ रुद्ध है, तरुणियों को माता बनने का अवसर नहीं मिलता। यवन-विजय की ध्वजा पूर्व समुद्र पर गड़ भी जाय फिर भी किन हाथों में उसकी डोरी रहेगी, किन कन्धों पर उसका भार रहेगा ? जो अवस्था पुत्र पैदा करने की है उसी में इन्हें मरना पड़ रहा है। बालू के बाँध जैसे इनके विजय-चिह्न मिट जायँगे।

टिथोनस—हमारी सेना में तीन ऐसे लेखक हैं जो हमारी विजय का क्रमबद्ध इतिहास भी लिख रहे हैं। हमारी सेना के मार्ग में जितनी धरती पड़ी, जितने नगर, नदी, पर्वत, उन निवासियों का आहार-विहार, शासन और रीति-नीति। कैसे लिखना है इन्हें, मेधावी अरिस्तातल ने उन्हें सब बता दिया है।

पुरु—कितनी बातें जो इनकी समझ में न आयेंगी—नीचे-ऊपर कर लिख दी जायँगी। तुम्हारी स्तुति और दूसरों की निन्दा होगी इनके इतिहास में। विजयी के शस्त्र लेकर चलनेवाले हाथ, लेखनी का धर्म भी निभा लेंगे ! आगे आनेवाले विचारक इस इतिहास से भ्रम में पड़ेंगे। सत्य का रूप सदैव के लिए भ्रामक हो जायगा। (**रुद्रदत्त का प्रवेश**) हाँ, क्या बात है ?

रुद्रदत्त—तीन नावों पर पच्चीस यवन सैनिक पकड़े गये हैं।

टिथोनस—किसने पकड़ा ? किसलिए ?

रुद्रदत्त—तीन योजन दक्षिण वितस्ता की थाह ले रहे थे वे; कहाँ जल कितना गहरा है। एक पहर रात से एक पहर दिन तक इनका यही काम रहा; बाँस के लम्बे लग्गे और पत्थर बँधी डोर से।

टिथोनस—(**ऊँची साँस में**) तब ·· किसी को चोट तो नहीं आई ?

रुद्रदत्त—सात मर गये हैं राजदूत ! चुपचाप हमारे ग्रामणी की आज्ञा मानकर शस्त्र रख दिये होते तो कोई न मरता। चोरी का आचरण···राजनियम की अवहेलना, उसके ऊपर शस्त्र का आतंक···

[**टिथोनस और नियरकस की आँखें लाल हो जाती हैं। होंठ हिलने लगते हैं।**]

पुरु—सुन लेने दो पहले राजदूत मुझे। फिर मैं तुम दोनों को सन्तोष दे सकूंगा। (**रुद्रदत्त की ओर देखकर**) एक साँस में कह दो युवराज इस घटना की सारी बातें, कम-से-कम शब्दों में।

रुद्रदत्त—वितस्ता की आधी धार के इधर, नावें अँधेरे में तीन बार आईं। अभी रात थी। दो बार किनारे तक आ पहुँचीं। तटरक्षक ने इस पार के ग्रामणी को इसकी सूचना दी।

पुरु—भीमसेन को······उधर के ग्रामणी वही हैं।

रुद्रदत्त—जी····· अँधेरे में ही भीमसेन ने उत्तर-दक्षिण दोनों ओर से दो नावें भेजकर अपने केवटों से दो महाजाल का घेरा डलवा दिया। यवन सैनिक तब तक इस रहस्य को न जान सके जब तक कि वे नाव के साथ मछली की तरह दोनों जाल में फँस न गये। भीमसेन उस समय तट पर अपने सैनिकों के साथ आ गये थे। तब दोनों जाल खींचे गये जिनमें यवन नावें फँसी थीं।

पुरु—फिर सात मरे कैसे ?

रुद्रदत्त—पहली नाव के यवनों को शस्त्र छोड़कर उतरने का आदेश दिया गया, वे एक-एक कर उतरे थे कि दूसरी नाव के सैनिक शस्त्रों के साथ कूद पड़े, तीसरी नाव अभी जाल के भीतर थी नहीं तो ·····

और मरे होते।

पुरु—अभयदान दिया गया था उन्हें ?

रुद्रदत्त—जी हाँ, पूरा विश्वास दिलाया गया था कि उनके साथ सद्व्यवहार होगा।

पुरु—(**शशिगुप्त की ओर देखकर**) तुम ने कहा था भद्र ! पारस की सेना पर विजयी ने रात में आक्रमण करने के प्रस्ताव पर कहा था कि वह चोरी से विजय नहीं लेगा। और यहाँ चोरी से वितस्ता पार करने की योजना बन रही है। युद्ध से पूर्व सब कहीं वह छल और असत्य की आड़ लेता रहा है। यहीं देख लो, युद्ध और विग्रह एक ही साथ वह चला रहा है। दुमुँहे साँप की गति हो रही है उसकी !

टिथोनस—हम अपने सैनिकों को देखेंगे, कहाँ हैं वे ? (**दोनों क्रोध में दहक कर खड़े होते हैं। दोनों के भल्ल ऊपर वायु में घूम जाते हैं**)।

रुद्रदत्त—दण्डगृह में ····· भीमसेन स्वयं द्वाररक्षक बने हैं।

पुरु—कह दो भीमसेन से ···· इस बार इन्हें मुक्त करना है।

रुद्रदत्त—केकय परिषद् को आमन्त्रित करना होगा इसके लिए।

पुरु—नियम यही है। पिछले तीस वर्षों में से संकटकालीन विशेष अधिकार का उपयोग मैंने कभी नहीं किया। इस अवसर पर कर रहा हूँ। परिषद् के सभी सदस्य केकय-सेना के संगठन में लगे हैं। इस युद्ध के बाद ही शान्ति का वह समय आयगा जब सबको निमन्त्रित करना सम्भव हो। आचार्य विष्णुगुप्त का कहीं पता है ?

रुद्रदत्त—वह उस पार यवन शिविर में गये हैं।

पुरु—कह दो, भीमसेन छोड़ दें यवन सैनिकों को। परिषद् मेरे इस आचरण पर विचार कर लेगी। तो हम लोग चलें। (**टिथोनस की ओर देखकर**) देखो दूत ! वितस्ता की आधी धार में केवल एक सैनिक के साथ मैं जाऊँगा, कह देना यवनराज से, उन्हें भी आधी धार में एक सैनिक के साथ आना होगा। (**रुद्रदत्त का प्रस्थान**)।

टिथोनस—कोई दूसरा नहीं ?

पुरु—कोई नहीं ।

शशिगुप्त—सुन्दरी ताया भी नहीं ? (**मन्द हँसी**)।

पुरु—(**सन्तोष की हँसी**) इतनी देर भी जो विजयी उस सुन्दरी का वियोग न सह सके तो कोई बात नहीं, वह आ सकती है ।

शशिगुप्त—तो रमणी का सुख सुरा में नहीं विनोद में मिलता है ।

पुरु—हम तो यही मानते रहे हैं । आओ, चलें तट तक, युद्ध करना ही पड़ा तो यवन सैनिक सभी तीस के नीचे रहेंगे और केकय सैनिकों में पचास के नीचे वे ही रहेंगे जिन्हें धर्म से युद्ध का अधिकार होगा । कुलदेव और पितरपूजा के लिए जो पुत्र का जन्म दे चुके हों ।

टिथोनस—(**जाते-जाते**) कौन है वह छः सिरवाला देवता जो आपकी सेना का सेनापति है ?

पुरु—(**सम्हलकर**) भगवान् कार्तिकेय । किसने कह दिया तुमसे हमारे सेनापति के छः सिर हैं ?

नियरकस—हम लोग सुन चुके हैं तुम्हारे देवता भी युद्ध में साथ रहते हैं । छः सिरवाला सेनापति मोर पर चढ़ता है, आठ बाहोंवाली देवी सिंह पर चढ़ती है, बड़े पेट (**दोनों हाथों का घेरा बनाकर**) और हाथी की सूंडवाला मूसक पर··· (**शशिगुप्त से**) क्या नाम है इस देवता का······ऐसा भयानक रूप हमारे देवी-देवताओं का नहीं है । ठीक वैसे ही हैं वे जैसे हम हैं, जीयस, अपोलो, एथनी, हेरा ··

पुरु—रूप में ही नहीं, कार्य में भी तो तुम्हारे जैसे हैं वे दूत ! पिता को मारकर तुम्हारे देवता भी आसन्दी पर बैठ जाते हैं !

टिथोनस—और यहाँ···

पुरु—यहाँ की पूछ रहे हो ? पुत्र ने पिता को मारकर अधिकार लिया, मनुष्य तक में यह बात नहीं सुनी गई, फिर देवता की क्या बात ? अपने पिता क्रोटस को मारकर जीयस ने अधिकार लिया था ?

नियरकस—पुत्र से बली पिता तब यहाँ बराबर होता होगा । इसीलिए महाराज द्वन्द्व करने चले हैं, युवराज नहीं ।

[शशिगुप्त और पुरु एक साथ हँस पड़ते हैं । सभी बाहर निकल जाते हैं ।]

तारा—चले गये ....

[उत्तर के द्वार से प्रवेश कर, पश्चिम द्वार से बाहर देखती है, फिर उत्सुक मुद्रा में लौटकर, जिस भद्रपीठ पर भद्रबाहु बैठा था, उसी पर सिर टेककर हाथों में छिपा लेती है । भद्रबाहु का बाहर से प्रवेश ।]

भद्रबाहु—(तारा की पीठ पर हाथ रखकर) राजकुमारी.... यह क्या...तुम भी .. ..

तारा—(उसी स्थिति में भरे कण्ठ से) नहीं...नहीं दया नहीं चाहती मैं, राजकुमार ! रजनी यहाँ रानी बन गई । मेरा क्या होगा ?

भद्रबाहु—तुम राजकुमारी ! तुम उत्सव मनाओगी इस आनन्द में ।

तारा—(गिरते-गिरते उठकर खड़ी होती है । उसकी रतनार आँखों से बड़े-बड़े बूँद आँसू निकल रहे हैं । भद्रबाहु अपने उत्तरीय से उसकी आँखें मूंद लेता है । तारा पीछे हटकर खड़ी होती है) उसकी दासी बनकर... ..उसकी कृपा पर जीकर राजकुमार ! किसके मुँह से सुन रही हूँ यह मैं ? हाय ! तालेमी भी इतना निर्दय न होगा ।

भद्रबाहु—उस दिन भी तुमने यही कहा था...महाराज के साथ जब मैं अभिसार जा रहा था; ग्रीष्म गृह के पीछे रुककर अधिक सुनने का अवसर तब नहीं था..... वही दशा आज भी है । शस्त्र लेने भर का समय है ।

तारा—(साँस छोड़कर) कब तक लौटोगे ?

भद्रबाहु—कौन जाने न लौटूं । युद्ध रुक जायगा, इसमें मुझे विश्वास नहीं है । युद्ध में जाकर लौटना तो संयोग से होता है । कोई कह रहा है (अपने हृदय पर हाथ रखता है) मुझे लौटना नहीं है अब । उस अन्तिम क्षण भी तुम्हारी यह बात खटकती रहेगी । तुम्हारी वाणी पर मेरे लिए केवल यही एक शब्द निर्दय क्यों है ? कहो, मौन नहीं रहने दूंगा अब तुम्हें ।

तारा—(**पैर के अंगूठे से धरती कुरेदती-सी**) कोई नहीं कहेगा। कहने की बात नहीं है वह राजकुमार ! मुझे भी अपने साथ लेते चलो। तुम्हारे चले जाने पर सब ओर सूना हो जायगा, सूर्य से भी नहीं मिटेगा मेरे भीतर का अन्धकार, और चन्द्रमा की किरणों से आग निकलेगी।

भद्रबाहु—राजकुमारी ! वही रोग जो तुम्हारी बहन को पहले हुआ ?

तारा—उसे यह रोग यहाँ आने पर हुआ। तक्षशिला विद्यापीठ के रंगमण्डप के झरोखे पर जिन हाथों ने मुझे उठाकर रख दिया था, इसलिए कि द्वार न तोड़ना पड़े और भीतर के दृश्य मैं देख लूं। ठीक है, पुरुष सब कुछ सँजोकर नहीं रखता, भूल जाता है। हम नहीं भूलतीं .... क्यों नहीं भूलती हम.. ...उन हाथों में अब भी हूँ मैं, रंगमण्डप के उसी झरोखे पर......(**सिसकने लगती है**)।

भद्रबाहु—ना......ना......कातर न बनो अब... आओ, उन हाथों में मैं तुम्हें फिर भी उठा लूं। (**आगे बढ़कर उसे दोनों हाथों में उठा लेता है। तारा उसके कन्धे पर सिर रखकर सिसक उठती है**) युद्ध बीत जाय...समझ रही हो ..और तब मैं जो जीवित रहूँ।

तारा—मेरा मन कह रहा है...मेरे देव यहाँ हँसते आयेंगे। कोई आ जायगा।

भद्रबाहु—(**मन्द हँसी**) ऐसा नया काम नहीं है यह, जो कभी किसी ने न किया हो।

[**पर्दा गिरता है**]

तीसरा अंक

[युद्ध में हाथियों की भयानक ध्वनि । रथों की गड़गड़ाहट, घोड़ों का हींसना, धनुष की टंकार, शस्त्रों की झंकार और विपक्ष के सैनिकों का कोलाहल सुनाई पड़ रहा है । आकाश में पक्षियों की गूंज और उत्तर के वन में वन्य-जीवों की भय से दबी बोली वातावरण को अशुभ बना रही है । शंख, भेरी और युद्ध के अन्य बाजे रह-रहकर दिगन्त को हिला रहे हैं ।]

अलिकसुन्दर—(**प्रवेश कर**) टिथोनस ! नियरकस ! (**क्रोध, भय और विषाद से कांपता स्वर**) ।

टिथोनस—(**हाथ में ऊनी आसन लिये हुए**) बिछा दूं यहीं, श्रीमान् तब तक विश्राम करें ।

अलिकसुन्दर—बस, अकेले तुम आये ? (**सन्देह और विस्मय की मुद्रा**) ।

टिथोनस—नियरकस और मिलिंगर भी हैं । (**आसन बिछाकर**) विश्राम करो विजयी ! आकाश का सूर्य मध्य विन्दु पर बराबर नहीं रहता । क्रातेरस के पहुँचते ही हम पासा पलट देंगे । (**दक्षिण की ओर हाथ उठाकर**) वह···वह ··पार कर गई उसकी सेना वितस्ता । शत्रुओं के दाएँ और पीठ पर आघात करना है ।

[**अलिकसुन्दर का हाथ पकड़कर बैठाने की चेष्टा करता है**]

अलिकसुन्दर—मृत्यु का रूप देख लेने पर विश्राम की रुचि नहीं रहती । समझ में नहीं आ रहा है, केवल दो सहस्र केकय ग्यारह सहस्र उसी यवन सेना के दाँत खट्टे कर रहे हैं, जिसके सामने दारयवहु के एक लाख सैनिक सेमर की रुई-से उड़े थे, एकबताना, सूषा और पारसपुर के राजभवन जिसके धक्के से धरती पर आ गये थे । क्या हो गया है इस सेना को ? जीयस का क्रोध कहूँ इसे कि अपोलो का अभिशाप ?

तारा—(**पैर के अँगूठे से धरती कुरेदती-सी**) कोई नहीं कहेगा। कहने की बात नहीं है वह राजकुमार ! मुझे भी अपने साथ लेते चलो। तुम्हारे चले जाने पर सब ओर सूना हो जायगा, सूर्य से भी नहीं मिटेगा मेरे भीतर का अन्धकार, और चन्द्रमा की किरणों से आग निकलेगी।

भद्रबाहु—राजकुमारी ! वही रोग जो तुम्हारी बहन को पहले हुआ ?

तारा—उसे यह रोग यहाँ आने पर हुआ। तक्षशिला विद्यापीठ के रंगमण्डप के झरोखे पर जिन हाथों ने मुझे उठाकर रख दिया था, इसलिए कि द्वार न तोड़ना पड़े और भीतर के दृश्य मैं देख लूं। ठीक है, पुरुष सब कुछ सँजोकर नहीं रखता, भूल जाता है। हम नहीं भूलतीं ···· क्यों नहीं भूलती हम······उन हाथों में अब भी हूँ मैं, रंगमण्डप के उसी झरोखे पर······(**सिसकने लगती है**)।

भद्रबाहु—ना······ना······कातर न बनो अब··· आओ, उन हाथों में मैं तुम्हें फिर भी उठा लूं। (**आगे बढ़कर उसे दोनों हाथों में उठा लेता है। तारा उसके कन्धे पर सिर रखकर सिसक उठती है**) युद्ध बीत जाय···समझ रही हो ··और तब मैं जो जीवित रहूँ।

तारा—मेरा मन कह रहा है···मेरे देव यहाँ हँसते आयेंगे। कोई आ जायगा।

भद्रबाहु—(**मन्द हँसी**) ऐसा नया काम नहीं है यह, जो कभी किसी ने न किया हो।

[**पर्दा गिरता है**]

तीसरा अंक

[युद्ध में हाथियों की भयानक ध्वनि । रथों की गड़गड़ाहट, घोड़ों का हींसना, धनुष की टंकार, शस्त्रों की झंकार और विपक्ष के सैनिकों का कोलाहल सुनाई पड़ रहा है । आकाश में पक्षियों की गूंज और उत्तर के वन में वन्य-जीवों की भय से दबी बोली वातावरण को अशुभ बना रही है । शंख, भेरी और युद्ध के अन्य बाजे रह-रहकर दिगन्त को हिला रहे हैं ।]

अलिकसुन्दर—(**प्रवेश कर**) टिथोनस ! नियरकस ! (**क्रोध, भय और विषाद से कांपता स्वर**) ।

टिथोनस—(**हाथ में ऊनी आसन लिये हुए**) बिछा दूं यहीं, श्रीमान् तब तक विश्राम करें ।

अलिकसुन्दर—बस, अकेले तुम आये ? (**सन्देह और विस्मय की मुद्रा**) ।

टिथोनस—नियरकस और मिलिंगर भी हैं । (**आसन बिछाकर**) विश्राम करो विजयी ! आकाश का सूर्य मध्य विन्दु पर बराबर नहीं रहता । क्रातेरस के पहुँचते ही हम पासा पलट देंगे । (**दक्षिण की ओर हाथ उठाकर**) वह···वह ··पार कर गई उसकी सेना वितस्ता । शत्रुओं के दाएँ और पीठ पर आघात करना है ।

[**अलिकसुन्दर का हाथ पकड़कर बैठाने की चेष्टा करता है**]

अलिकसुन्दर—मृत्यु का रूप देख लेने पर विश्राम की रुचि नहीं रहती । समझ में नहीं आ रहा है, केवल दो सहस्र केकय ग्यारह सहस्र उसी यवन सेना के दांत खट्टे कर रहे हैं, जिसके सामने दारयवहु के एक लाख सैनिक सेमर की रुई-से उड़े थे, एकबताना, सूषा और पारसपुर के राजभवन जिसके धक्के से धरती पर आ गये थे । क्या हो गया है इस सेना को ? जीयस का क्रोध कहूँ इसे कि अपोलो का अभिशाप ?

एथनी की भौंह टेढ़ी हो गई है कि हेरा की एक आँख फूट गई है ?

नियरकस—(**प्रवेश कर**) डेल्फी का भविष्यवक्ता भी नहीं जानता था यह, यह न आम्भी ने कहा न शशिगुप्त ने। यह लोग तो जानते थे? (**भय की साँस ले रहा है**)।

अलिकसुन्दर—क्या ··क्या जानते थे? (**निराश और आर्त्त मुद्रा**)।

नियरकस—यही कि शत्रुओं की ओर से इनके देवता भी लड़ते हैं। इनकी असि में भवानी बसती है। कितना भयानक है···पहाड़-से काले हाथी के ऊपर इनका वह देव सेनापति जिसके छः मुख से सब ओर आग बरस रही है।

अलिकसुन्दर—(**खेद की हँसी**) पत्थर की मूर्त्ति है वह···जिसके हाथ में धनुष और बाण भी बनावटी हैं। इतना सच है कि उसी मूर्त्ति के कारण प्राण का भय भी इन सैनिकों को नहीं है। सिंह, भेड़िये, भालू भी ऐसे भयानक न होंगे।

टिथोनस—वह देखो क्रातेरस पहुँच गया। उसके पाँच सहस्र सैनिक पहुँच गये शत्रुओं की पीठ पर ·····अब देखो शत्रु कहाँ जाते हैं ! (**उत्साह का स्वर**)।

अलिकसुन्दर—इस युद्ध में जो विजय मिले तो आम्भी के दिये सभी बैलों की बलि मैं जीयस की नई वेदी पर चढ़ा दूंगा, इतने ही अपोलो को, एथनी और हेरा को भी इतने ही। देवता प्रतिकूल न होते तो पुरु का वह पुत्र ऐसे बाल-बाल न बच जाता। एक साथ मेरे सात सेनापतियों को मारकर भी वह जी रहा है, हरिकुल और ट्राय के विजयी वीरों का गौरव वितस्ता की लहरों में डूब रहा है।

टिथोनस—कह रहा हूँ, थोड़ी देर विश्राम करो विजयी ! अपने देवताओं का स्मरण करो, अपने अपराधों के लिए क्षमा माँगो।

अलिकसुन्दर—(**भरे कण्ठ से**) सच कह रहे हो, पारस की सुरा और सुन्दरियों को पाकर मैं अपने को देवता मानने लगा था। दारयवहु के स्वर्ण और रत्नजटित वस्त्रों से मैंने अपना शृंगार किया था। मेरे मन

ने मुझे देवता बना दिया। जीयस और अपोलो की तरह मैंने पारस में, निषद में, सुग्ध में, अश्मक और गान्धार में वहाँ के निवासियों से अपनी पूजा कराई। तुम लोगों में भी कितने मुझे उसी तरह पूजने लगे जैसे अपोलो को पूजते थे। पुरु के पुत्र पर जो मेरा भाला चला, जो अब तक कभी चूका न था, पुरु ने उसे अपनी ढाल पर रोककर जो भाला मुझे मारा, अंगुल भर हटकर उस घोड़े की पीठ पर पड़ा जो मकदूनिया से यहाँ तक इतने दिन, इतने वर्ष मुझे अजेय बनाये रहा। आह !······केवल घोड़ा ही नहीं अपितु मेरे जन्म का साथी था वह···

टिथोनस—वहीं था मैं भी। पुरु का भाला उसके पेट के पार हो गया था, फिर भी वह तुम्हें पीठ पर लिये धीरे-धीरे ऐसे बैठ गया जैसे बच्चे को लेकर माँ बैठ जाती है।

अलिकसुन्दर—इस देश के द्वार पर ही हमारी यह गति हुई, पूर्व समुद्र तक पहुँचना अब स्वप्न है। पुरु के साथ विश्वासघात किया···चोरी से रात को वितस्ता पार भी कर लिया, फिर भी भाग्य में जैसे पराजय बदी थी। जीत जाने पर फिर किसे इस बात की याद रहती है, पर अब तक जो कुछ मिला सब चला गया।

मिलिगर—(**प्रवेश कर**) शशिगुप्त और आम्भी भी आ गये।

[**शशिगुप्त और आम्भी का प्रवेश**]

अलिकसुन्दर—(**एक ही साथ आम्भी और शशिगुप्त के हाथ पकड़ कर**) इसीलिए निमन्त्रित किया था महाराज ! कि मुझे यहाँ आकर··· इन बनैले जीवों के मुँह में ठेल दें।

आम्भी—देखूँ कहाँ चोट आई है ?

अलिकसुन्दर—कहीं नहीं······(**अपनी जाँघ पर हाथ रखकर**) यहीं इतना वस्त्र काटकर भाला घोड़े की पीठ में धँस गया। शशिगुप्त !···

शशिगुप्त—हाँ···कहो विजयी ?

अलिकसुन्दर—भाग्य के साथ उपहास न करो भद्र ! वितस्ता के किनारे तक विजयी रहा मैं। मेरी सेना का वह गौरव वितस्ता के जल

में समा चुका है। बस एक बात का उत्तर दो··· कहो सच कहोगे ?

शशिगुप्त—शपथ लेकर ?

अलिकसुन्दर—हाँ······(**एकटक उसकी ओर देखता हुआ**)।

शशिगुप्त—किसकी ?

अलिकसुन्दर—जो तुम्हारी सबसे अधिक प्रिय हो।

शशिगुप्त—तो मैं अपने धर्म की शपथ लेकर···

अलिकसुन्दर—पुरु की सेना अकेले उसके पुत्र को छोड़कर और सब उसकी अवस्था के क्यों हैं ? आधे बाल सबके पक गये हैं।

शशिगुप्त—अँधेरी रात में बादल और बिजली की कड़क में जो तुम्हारी सेना वितस्ता पार न कर गई होती और सूचना मिलते ही प्रतिरोध न करना होता तो पुरु का पुत्र भी यहाँ न आता। सभी उसी अवस्था के होते जो पुरु की है। समझ नहीं रहे हो तुम यहाँ लोग विजय के लिए युद्ध नहीं करते।

अलिकसुन्दर—तब और किस लिए ? (**विस्मय की मुद्रा में**)।

शशिगुप्त—धर्म के लिए। यहाँ जो रणक्षेत्र में मरते हैं सीधे स्वर्ग जाते हैं, सूर्यमण्डल को पार कर। इसीलिए सेना में सभी ऐसे हैं जिनके आधे बाल पक चुके हैं, संसार की सारी कामनाएँ जिनकी पूरी हो चुकी हैं। तरुणों से पहले स्वर्ग पहुँचने का अधिकार है यह उनका, विजयी !

अलिकसुन्दर—और इन सबके शस्त्र मन्त्र से चलते हैं ?

आम्भी—हा······हा······हा ! किसने कह दिया तुमसे यह सब ?

अलिकसुन्दर—तक्षशिला से लेकर यहाँ तक जिस किसी से पूछा सभी कहते गये···इधर लोग मन्त्र के बल से शस्त्र चलाते हैं। गरुड़ पर, बैल पर, सिंह, मोर और कितने ही और वाहनों पर बैठकर इनके देवता इनके साथ युद्ध में रहते हैं। पुरु से आपका बैर न लेना होता तो मेरे सैनिक इस पार आने में सौ बार सोचते।

[**एक साथ कई शंख बजने की ध्वनि जैसे युद्ध और भयानक हो उठा हो**]

अलिकसुन्दर—(**शशिगुप्त से**) कोई फल नहीं है, इस युद्ध में। महाराज आम्भी यदि आज्ञा दें तो मैं युद्ध बन्द कर दूं। इनके सन्तोष के लिए पुरु से केवल द्वन्द्व की बात मानकर भी वचन-भंग का दोष मुझे उठाना पड़ा।

आम्भी—पर तुम्हारे सेनापतियों में कौन था जो उस दैत्य से पार पाता ? देख लिया तुमने कितना ऊँचा है वह···उसके कन्धे तक तुम्हारा सेनापति कोइनस भी पहुँचता है।

टिथोनस—(**क्रोध में**) अरे चलो······पुरु की लम्बी देह से हम नहीं डरते, तब भी कहा था और अब भी कह रहा हूँ।

आम्भी—तो क्या बिगड़ा है ? शशिगुप्त कह दे जाकर। भाग्य था कि तुम बच गये (**नियरकस की ओर संकेत कर**) इनकी ढाल जो न रोक लेती तो उसका भाला तुम्हारी छाती चीरकर पार कर जाता।

अलिकसुन्दर—अब नहीं······होनी होकर रहेगी। इस धरती पर पुरु जैसा विशाल शरीर दूसरा नहीं देखा गया और अब तो यह भी सुन लिया कि वह बिना शस्त्र के सिंह से लड़ता है। ताया ने सच कहा था, इस पुरुष को अपना मित्र बना लो। इस एक से जो सधेगा उतना··· (**पश्चिम ओर देखकर**) सिल्यूकस ! यह तुम्हारी क्या दशा है ?

सिल्यूकस—(**भीगे वस्त्रों में प्रवेश कर**) क्या कहूँ······कैसे कहूँ ? (**घोर दुःख में काँपकर**)।

अलिकसुन्दर—(**उद्वेग में**) क्या बात है जी··· ··काँप क्यों रहे हो······क्या हुआ······ताया कहाँ है ? (**साँस रोक लेता है**)।

सिल्यूकस—मैं नहीं जानता। (**नीचे धरती देखने लगता है**)।

अलिकसुन्दर—तब कहो कि आज हमारी प्रलय का दिन है। सब ओर से···दाएँ, बाएँ, आगे-पीछे···सब ओर से (**दोनों हाथों का वृत्त बनाकर उत्तेजना की मुद्रा**) क्या हो गई वह, कहाँ गई ? (**साँस रुक जाती है**)।

सिल्यूकस—मेरी समझ में कुछ नहीं आता, जो कुछ देखा, इन आँखों

से, कह देता हूँ। जितने लोग हैं यहाँ इस घटना का विचार करें।

आम्भी—उस पार के शिविर में नहीं है वह ?

अलिकसुन्दर—(**सिल्यूकस की ओर देखकर**) कोई कुछ नहीं कहेगा तुम से······केवल तुम कहोगे सिल्यूकस ! कह चलो, अपना सबसे बड़ा धन मैं तुम्हें सौंपकर आया था। ताया की जगह मेरे यश के शिखर पर थी। चुप मत रहो, कहो। (**वेग से साँस चलने लगती है। ललाट का पसीना निकल आता है**)।

सिल्यूकस—एक पहर रात रहते तुम्हारे सैनिक इस पार आ गये।

अलिकसुन्दर—बस, उतना कहो जो मैं नहीं जानता। सबसे पीछे पानी में घुसा तुम्हें उसके निकट बैठाकर। देख रहा हूँ ताया नहीं है इसीलिए इस युद्ध में हमारी यह दशा है।

सिल्यूकस—तुम्हारे इधर आते ही साथ के और सैनिकों से कुछ हटकर बैठने के लिए कहा···

शशिगुप्त—ऐसे कहो भद्र, कि बात हम लोग भी समझें। देवी के साथ तुम्हें······कहाँ छोड़ आये थे यह ?

सिल्यूकस—अँधेरी रात में शिविर से आठ कोस उत्तर चलकर हम लोगों ने नदी पार की, जिसमें शत्रुओं को हमारी टोह न लगे। जिस स्थान पर नदी में घुसे वहाँ धारा के बीच में ऐसा द्वीप पड़ गया जिस पर पेड़ों की कतार खड़ी थी, (**पश्चिम की ओर हाथ उठाकर**) वे पेड़ दिखाई पड़ रहे हैं, जब पता चला कि एक धार और पार करनी है और हम नदी के द्वीप में हैं। नावों के इधर ले आने में लम्बा चक्कर काटना पड़ता···रात रहते ही इस किनारे आ भी जाना था। विजयी ने अपनी प्रिया के साथ मुझे और सात सैनिकों को छोड़कर दूसरी धार को भी पार कर लिया।

अलिकसुन्दर—विस्तार मत करो सिल्यूकस !······एक-एक साँस में मेरा प्राण बहा जा रहा है।

सिल्यूकस—जैसी आज्ञा हुई सैनिक और पश्चिम हटकर खड़े रहे

कि बैठ गये, अँधेरे में मुझे नहीं सूझा। एक हाथ में भल्ल और दूसरे में असि लेकर मैं सब ओर की आहट लेता हुआ बैठा रहा। हमारी सेना उस पार भी थी और इस पार भी। बनैले जीवों को छोड़कर और कोई शंका मुझे न हुई, आधी घड़ी समय बीता होगा कि पैरों के बल रेंगते हुए एक साथ ही कई ग्राह दिखाई पड़े। ऐसा ही लगा मुझे कि वे ग्राह हों, पर ग्राह नहीं थे वे। असावधान सैनिकों को कितनी जल्दी उन्होंने समाप्त कर दिया कि किसी के मुँह से आह न निकली। मारे भय के ताया ने मुझे पकड़ लिया—छोड़कर मैं जाता भी कैसे? दूसरे ही क्षण मेरे दोनों हाथों से शस्त्र छीनकर····· तीन थे कि चार थे······कह न सकूँगा। किसी ने हाथ, किसी ने कंठ और किसी ने कटि पकड़कर मुझे ताया से दूर खींच लिया। देख रहा था मैं सब। यों रात अँधेरी थी, ऊपर बादल गरज रहे थे, तब तक बिजली चमकी और मैंने देखा उनमें दो ने ताया को उठाकर काठ के एक पटरे से बाँध लिया और उसके दोनों छोर अपनी पीठ से लगाकर ठीक ग्राह जैसे पेट के बल पानी में रेंग गये। ताया की आकृति पानी पर दिखाई पड़ती थी, पर वे दोनों जैसे पानी के भीतर ही भीतर जा रहे थे।

अलिकसुन्दर—वितस्ता के जल में रहनेवाले कोई दैत्य थे वे तब··· चली गई ताया सदा के लिए! (**आँखों में जल और साँस में वेग**)।

सिल्यूकस—नहीं······आगे की बात और भयानक······(**भय और घोर विस्मय की मुद्रा**)।

अलिकसुन्दर—तब कहो कि उसका मरना तुमने अपनी आँखों देखा! (**दोनों हाथ अपने ललाट पर दे मारता है**)।

सिल्यूकस—निश्चय रूप से जानता हूँ मैं, ताया मरी नहीं है। तक्षशिला के स्नातकों ने उसका हरण किया है। (**वेग से साँस लेता है**)।

अलिकसुन्दर—(**विस्मय में**) क्या कहते हो? (**साँस रोककर निर्निमेष देखने लगता है**)।

सिल्यूकस—वहीं······उसी स्थान पर अब तक दो मेरे साथ रहे

हैं, एक ही डोर से मेरे दोनों हाथ और पैर बाँधकर उन्होंने मुझे धरती पर लुढ़का दिया था। क्या-क्या कहते रहे वे सब कहने का समय यहाँ नहीं है।

अलिकसुन्दर—अब तक तुम्हारे साथ रहे हैं! चलो, अच्छा हुआ तुम्हारा हरण नहीं कर ले गये वे। (**विराग का स्वर**)।

सिल्यूकस—ताया को उठाने के साथ ही एक ने कहा था समूचे सभ्य जगत की नारियों का अपमान तुम्हारे प्रेमी ने किया, और हम तुम्हें ले चल रहे हैं केवल इसलिए कि तुम्हारे अभाव में नारी जाति का महत्त्व वह जान ले। हमारे साथ तुम्हारा स्थान वही रहेगा जो हमारी माता का है। अनादर और अपमान का भय छोड़कर चलो।

अलिकसुन्दर—(**साँस रोककर**) सिल्यूकस! इसमें कितना तुम कह रहे हो और कितना वे कह गये ?

सिल्यूकस— एक-एक शब्द उन्हीं के हैं। हो सकता है शब्द में कहीं भेद हो, अर्थ ज्यों-का-त्यों है।

अलिकसुन्दर—यह कह सकोगे किधर ले गए ?

सिल्यूकस—अनुमान कर रहा हूँ जहाँ हम लोग खड़े हैं, यहीं नीचे किनारे कहीं वे लगे होंगे।

अलिकसुन्दर—अरे! (**उधर हाथ उठाकर**) वहीं हम लोग किनारे लगे, हमारे इतने निकट आने का साहस उन्हें हुआ होगा ?

सिल्यूकस—अनुमान यही है मेरा······यों अपनी आँखों पर विश्वास नहीं हो रहा मुझे··पानी में मनुष्य कितनी देर रहेगा।

अलिकसुन्दर—हाँ···हाँ·· क्या ?

सिल्यूकस—मेरे साथ जो दो अब तक बैठे रह गए इसलिए कि जब तक मैं इसकी सूचना दूँ, ताया पता नहीं यहाँ से कितनी दूर······ चन्द्रभागा के किनारे पहुँच चुकी रहे। यह भी कह गये वे······हमारी सेना जहाँ तक बढ़ेगी उतनी भूमि में किशोरी और तरुणी स्त्रियाँ नहीं मिलेंगी। ताया के साथ पता नहीं ऐसी नारियों की संख्या कितनी हो

गई होगी जिन्हें हमारे संसर्ग से बचने के लिए अपनी भूमि से दूर चन्द्र-भागा के पार, या उससे भी आगे जाना होगा।

अलिकसुन्दर—कैसे कह रहे हो कि वे तक्षशिला के स्नातक थे? (**धीरज का भाव**)।

सिल्यूकस—अभी मेरा बन्धन जब एक खोल रहा था और दूसरा अपनी देह की ऊँचाई भर लम्बी असि लिए खड़ा था, तो उसने कहा—'कह देना अपने विजयी से, हम पुरु के सैनिक नहीं हैं, तक्षशिला के स्नातक हैं हम। हमने यही ठीक समझा कि चोरी से वितस्ता पार करने की सूचना पुरु को न देकर विजयी यवन की प्रिया का हम हरण करें और अपने इस कार्य से उसके विजय का दम्भ सदैव के लिए मिटा दें।'

अलिकसुन्दर—और फिर······(**अधीर हो उठता है**)।

सिल्यूकस—मेरे बन्धन खोलकर वे ठीक ग्राह-से पानी में समा गये। अवाक् होकर मैं देखता रहा कोसों तक, पर जल में उनका कहीं पता नहीं चला।

आम्भी—अपनी आँखों से मैं देख चुका हूँ, तक्षशिला से सैकड़ों स्नातक सिन्धु में एक साथ डूबते थे और जल के नीचे-ही-नीचे इस पार से उस पार कभी-कभी चढ़ाव की ओर कोसों पहुँचकर पानी के ऊपर आते थे।

सिल्यूकस—वही तो कह रहा हूँ मैं। सोच नहीं पाता मैं पानी के भीतर मनुष्य कब तक रहेगा।

अलिकसुन्दर—कितने रहे होंगे वे?

सिल्यूकस—कैसे कहूँ···एक ओर से तो आये नहीं, अँधेरे में जिधर आँख जाती थी कई आकृतियाँ एक साथ दिखाई पड़ती थीं, जैसे वे सारी संभावनाओं के लिए तैयार होकर आये थे। पच्चीस-पचास भी हम होते तब भी ताया को वे ले गये होते।

अलिकसुन्दर—सैनिकों में वहाँ कोई भी जीवित नहीं?

सिल्यूकस—कोई नहीं······उनकी देह पर शस्त्र का कोई आघात

भी नहीं है। कहीं एक बूंद भी रक्त नहीं गिरा है; फिर भी वे सभी मरे हैं।

आम्भी—जानता हूँ मैं यह कैसे हुआ होगा।

अलिकसुन्दर—कैसे ?··· (**आम्भी की ओर उत्सुक होकर देखने लगता है**)।

आम्भी—सैनिकों की साँस के साथ विष का प्रयोग किया गया है। तक्षशिला के विष-विज्ञान का विस्मय है यह ··

अलिकसुन्दर—(**शशिगुप्त से**) ताया के न रहने पर समूचा जगत् जीतकर भी मैं क्या करूँगा ? कह दो भद्र ! पुरु से···मैं यहीं से लौट जाऊँगा। युद्ध बंद कर दें।

शशिगुप्त—और कहीं फिर वचन भंग हो; करेंगे मेरा विश्वास पुरु अब ?

सिल्यूकस—(**नदी-तट की ओर ध्यान से देखता हुआ**) ऐं ! क्या वस्तु है वह रत्नों की माला···

अलिकसुन्दर—(**सिल्यूकस के निकट पहुँचकर**) कहाँ···?

सिल्यूकस—क्या है वहाँ······? (**हाथ से संकेत करता है**)।

अलिकसुन्दर—ऐं ! (**वेग से नीचे उतरकर वहीं से**) सिल्यूकस··· ताया के केशबन्ध की माला है यह, दारयवहु की राजमहिषी के केशबन्ध से उतारकर अपने हाथों यह माला मैंने उसके केश में लगाई थी और यह अँगूठी भी मिल गई जिस पर मेरा नाम अंकित है। ठीक कह रहे हो। यहीं मेरी नाक के नीचे उसे लेकर वे किनारे लगे थे और मैं उसे नहीं बचा सका······तो अब वह इस धरती पर नहीं है। चली गई···

सिल्यूकस—हैं···हैं···देखो टिथोनस ! नियरकस ! पकड़ लो विजयी को······उधर जल की ओर कहाँ जा रहे हैं ! (**टिथोनस, नियरकस नीचे उतरते हैं**)।

अलिकसुन्दर—छोड़ो, छोड़ दो मुझे···वितस्ता की लहरों से पूछूं **कहाँ है मेरी ताया·· आह ! मेरी आँखों की ज्योति, आह !** जिसे **हृदय से**

लगाकर मैं अपने को जीयस और अपोलो से कम नहीं समझता था··· छोड़ दो, जाने दो मुझे जल में ··

शशिगुप्त—यवनराज ! क्या कहेंगे लोग यह जानकर कि सारे संसार का विजयी एक स्त्री के लिए इतना अधीर है, रो रहा है वह···

अलिकसुन्दर—उस रूप का जोड़ इस धरती पर दूसरा नहीं है शशिगुप्त ! न निकलता यह सूर्य कभी भी और न चन्द्रमा निकलता, अन्धकार की चादर से यह धरती ढक जाती, और वह लौट आती···

भद्रबाहु—**(प्रवेश कर)** उसके रूप के प्रकाश से तुम्हारा काम चल जाता, अकेले तुम्हारा; औरों का क्या होता ? सारे जगत् को अन्धकार में छोड़कर, केवल अपने लिए प्रकाश की कामना कर रहे हो तुम···ठीक है, सारे जगत् की विजय भी तो तुम अपने लिए चाहते थे। अपनी विजय को तुम सभ्यता की विजय कहते थे और अपने को जन-जन का सेवक। हाड़-माँस की एक नारी चली गई और उसी के साथ तुम्हारी कामनाओं की वह अग्नि बुझ गई जिसमें मिस्र, पारस, कम्बोज और सिन्धु तक की भूमि जल गई। **(सैनिक वेश में, धनुष कन्धे में, तरकस पीठ पर, हाथों में भल्ल और लम्बी असि)**।

आम्भी—राजकुमार ! विजयी दुःख में हैं।

भद्रबाहु—किस राजा का कुमार हूँ मैं, कहाँ है वह राजा ?

आम्भी—भद्रबाहु ! **(उद्वेग का स्वर)**।

भद्रबाहु—श्रीमुख की एक बात मुझे नहीं सुननी है। राज्यहीन राजा का पुत्र भद्रबाहु मर गया। उसके शव को जिसने अमृत पिलाकर जीवित किया, उस धर्म पिता केकय महाराज पुरु का दूत बनकर मैं आया हूँ। युद्धभूमि में विजयी को न देखकर···

अलिकसुन्दर—**(ऊपर कगार पर आकर)** मेरे मित्र महाराज आम्भी के राजकुमार दूत कैसे बन गये ? कौन है वह भाग्यवान् ?

भद्रबाहु—जिससे द्वन्द्व युद्ध की बात मानकर भी तुमने रात को चोरी से वितस्ता पार किया विजयी !

अलिकसुन्दर—(**हंसकर**) शत्रु का विश्वास कभी नहीं करते। केवल यही बताने के लिए···

भद्रबाहु—इसीलिए दोनों पक्ष के बीस सहस्र से अधिक सैनिक मारे गये। मनुष्य के रक्त का मूल्य तब पानी से भी कम है। इसीलिए तुम्हारे सात सेनापति अकेले महाराज पुरु के हाथ मारे गये, उनके युवराज अब तक उस लोक में होते यदि समय के उपचार से रक्त बन्द न हो जाता। नरसिंह पुरु के सामने टिकना कठिन है, तुम्हारे किसी सेनापति में यह बल नहीं है, यह जानकर पाँच सौ अपने धनुर्धरों को तुम उनके गज की आँख मे वाण मारने का आदेश देकर यहाँ भाग आये। अपनी प्रिया की रक्षा जो न कर सके, वह विश्वविजयी बने ! कैसी विडम्बना है यह ··

टियोनस—वह ··वह···भागा आ रहा है पुरु का गज। हमारे पाँच सौ धनुर्धर उसे सब ओर से घेरकर जाल में मछली जैसे···अब कहाँ जायेगा ?

[**घोर पीड़ा में गज की ध्वनि**]

विष्णुगुप्त—(**प्रवेश कर अलिकसुन्दर के हाथ में पत्र देता है**) पत्र को तुरन्त पढ़ो विजयी ! और इसके अनुसार कार्य करो। पुरु के अनिष्ट का अर्थ होगा एक एक सैनिक का मारा जाना और देवी ताया का आत्मघात। सोलह और पचास के बीच के सभी पुरुष अपने घरों में आग लगाकर तुम्हारे स्वागत को आनेवाले हैं।

अलिकसुन्दर—(**भरे कण्ठ से**) अभी वह जीवित है ?

विष्णुगुप्त—(**आवेश में**) पत्र ! पत्र खोलो विजयी ! पत्र······ (**दायाँ हाथ हिलाने लगता है**)।

अलिकसुन्दर—(**मंत्रमुग्ध-सा पत्र खोलकर**) उसी का लिखा है······उसी का······जी रही है अभी वह, सन्धि न कर लेने पर वह

आत्मघात करेगी ? ठीक है, उसी के कहने से मेरी यह विजय-यात्रा थी और अब उसी के आवेश से इसका अन्त हो।

[**वेग में आगे की ओर दौड़ता है। अन्य लोग उत्सुक होकर उधर देखते हैं। विष्णुगुप्त भी उसके पीछे जाते हैं।**]

अलिकसुन्दर—(**नेपथ्य में**) रोक दो युद्ध कोइनस। महाराज पुरु से मेरी सन्धि हो गई।

पुरु—(**नेपथ्य में**) विश्वास करने दो मुझे यवनराज मृत्यु का तुम्हारी बातों में विश्वास तुम्हारे देवता करेंगे।

विष्णुगुप्त—(**नेपथ्य में**) इस सन्धि का मध्यस्थ मैं हूँ महाराज !

पुरु—(**नेपथ्य में**) भागो ब्राह्मण सामने से इस हाथी के। यवनों ने इसका एक-एक अंग काटकर इसे अब काल बना दिया है। गजपाल कभी गिर पड़ा। आस्तरण के सहारे मैं टिका हूँ। वितस्ता की धार में धँसकर अपनी पीड़ा मिटायेगा यह या उसी में प्राण छोड़ेगा। अरे हाँ · हाँ · हाँ······बचो······बचो विजयी !

टिथोनस—(**भय और शोक में**) पकड़ लिया · ···पकड़ किया हाथी ने विजयों को······(**दोनों हाथों से सिर पीटने लगता है**)।

[**यवन सैनिकों का आर्त्तनाद**]

(**नेपथ्य में**)—अपोलो ! जीयस ! तुम्हारा नाम मिट रहा है। बचा लो अपने······

विष्णुगुप्त—(**प्रवेश कर दोनों हाथ ऊपर उठाकर**) डरो मत सैनिको ! महाराज पुरु रण में शंकर और रक्षा में विष्णु हैं। देख लो हाथी की सूँड से महाराज ने विजयी को निकाल लिया। देखो आस्तरण के भीतर विजयी को अपने अंक में लेकर वह बैठे हैं। कोई न जाने पाये उधर···नहीं तो डरकर हाथी कहीं आस्तरण नीचे न फेंक दे। (**वेग से साँस चल रही है**)।

भद्रबाहु—यह सब कैसे हो गया आचार्य ?

विष्णुगुप्त—इसका समय नहीं है भद्र ! देखो दोनों शत्रु एक दूसरे

की प्राण-रक्षा का प्रयत्न कर रहे हैं। महाराज अपने कटिबन्ध का एक छोर आस्तरण में बाँध रहे हैं। विजयी यवन अपने वस्त्र फाड़कर उनके घाव का रक्त रोक रहा है। गिरा ····गिरा······आस्तरण······ त्रिशूलपाणि ! भक्त को न भूलो।

शशिगुप्त—हमारे किये कुछ नहीं हो रहा है इस समय ·····(**सब उत्तर की ओर एकटक देख रहे हैं**)।

विष्णुगुप्त—हम करनेवाले रहे कब भद्र ! करानेवाले का ध्यान करो। जब जो करा दे। रुक गया आस्तरण, गिरा नहीं····· वितस्ता की कगार से जब हाथी नीचे चला, आस्तरण जैसे उलट गया था। यवनराज को जैसे अपने पेट में छिपाकर महाराज आस्तरण के भीतर दोनों हाथों और पैरों से चिपक गये हैं। अब कोई चिन्ता नहीं। हाथी वितस्ता की धार में उतर गया।

टिथोनस—(**पूर्व की ओर हाथ उठाकर**) कैसी आग लगी है वहाँ ? अरे···उत्तर से दक्खिन तक सब कहीं धुआँ उठ रहा है !

भद्रबाहु—वितस्ता के इस तट से दस कोस के गाँवों में आग लगी है।

टिथोनस—कैसे···? (**विस्मय की मुद्रा**)।

भद्रबाहु—स्त्रियों को उधर आगे भेजकर अपने हाथ अपने घरों को फूँककर पुरुष इधर आ रहे हैं तुम लोगों से लड़ने। चुप रहो। देखने दो हाथी कहाँ रुकता है।

आम्भी—तुमसे कुछ कहना है मुझे······(**भद्रबाहु का हाथ पकड़ता है**)।

भद्रबाहु—(**दोनों हाथों से अपने कान बन्द कर**) पाप लगेगा मुझे···

विष्णुगुप्त—चिन्ता न करें राजन्। भगवान् ने चाहा तो सब ठीक हो जायगा। युवराज भद्रबाहु तक्षशिला के सिंहासन को गौरव देंगे। तक्षशिला विद्यापीठ के कपाट फिर खुलेंगे। शास्त्र और शस्त्र की शिक्षा

वहाँ फिर चलेगी। पर हाथी तो रुकता नहीं ···धार के साथ चला जा रहा है।

भद्रबाहु—पिछले पन्द्रह दिन यह कालनेमि मेरी सवारी में रहा है। गजपाल की जगह पर कई बार मैं इसके मस्तक पर बैठ चुका हूँ। देखूं, मेरी बात सुनता है।

[**भद्रबाहु का प्रस्थान**]

सिल्यूकस—ताया कहाँ है इस समय···?

विष्णुगुप्त—क्यों भद्र ! तुम्हें सिल्यूकस कहते हैं ?

सिल्यूकस—हाँ···

विष्णुगुप्त—तुम्हीं पहरे पर थे ··(**द्वीप की ओर हाथ उठाकर**) ताया देवी के साथ ?

सिल्यूकस—(**साँस रोककर**) हाँ···

विष्णुगुप्त—महाराज के साथ तुम्हारे विजयी जब तक किनारे नहीं लग जाते, अपने पेट का पानी पचने दो। और हाँ···तुम्हारे सैनिक जो किनारा पकड़े बढ़े जा रहे हैं उन्हें रोको, नहीं तो हाथी रुकेगा नहीं।

सिल्यूकस—टिथोनस ! रोक लो अपने सैनिकों को। अभी मेरे कपड़े भीगे हैं। रात भर मारे डर के अब प्राण गया तब गया ·····बाँधे रहने से सारी देह में पीड़ा है।

टिथोनस—ओ···हो····! चुप रहो, रूई के गट्ठर-से पड़े रहने में तुम्हारी देह में पीड़ा है ? पड़े रहते पुरु के हाथी के आगे तब···

सिल्यूकस—बस, वैसे ही लुढ़क रहता·· जाओ, रोक दो ! अब तो रही तुम्हारे मन की। कायर मान लो मुझे···पेटू मान लो···पर रोक दो। देख रहे हो ? हाथी घूमकर हमारे सैनिकों को देखता है और सूंड उठाकर पानी में भी भाग चलता है।

विष्णुगुप्त—तुम्हारे सैनिकों के चमकीले पीतल के टोप सूर्य की किरणों में दहक जो रहे हैं। उनकी चमक से वह और डरकर भाग रहा है।

टिथोनस—अच्छी बात है, मैं रोक देता हूँ।

विष्णुगुप्त—कह दो अपने सैनिकों से, लौट जायँ अपने शिविर में

टिथोनस—यह नहीं होगा। विजयी को अकेले छोड़कर हम लोग चले जायँ?

विष्णुगुप्त—इस समय कौन है तुम्हारे विजयी के साथ? महाराज आम्भी और तुम्हारी सेना के एक सेनापति शशिगुप्त भी तो यहीं हैं।

टिथोनस—अपनी सेना के सेनापति हैं वे। यवन सैनिक किसी विदेशी को अपना सेनापति नहीं बनाता।

शशिगुप्त—चुपचाप चले जाओ टिथोनस! तुम्हारी जाति का सारा अहंकार इस समय महापुरुष पुरु की कृपा पर टिका है, नहीं तो वितस्ता की लहरों में उसे डूबा समझो! द्रोह और वैर के पुतले यवन संसार जीतकर भी मानवता का गुण न सीखेंगे।

टिथोनस—तब मैं नहीं जाऊँगा। हाथी चाहे जहाँ जाय, हमारे सैनिक उसके पीछे रहेंगे। कहो अब कुछ वैसा, और देखो फिर द्वन्द्व के लिए मैं तुम्हें ललकारता हूँ या नहीं।

शशिगुप्त—लौटने दो अपने स्वामी को, मैं तुम्हारी वह लालसा भी पूरी कर दूंगा।

टिथोनस—कौन है मेरा स्वामी? किसका दास हूँ मैं शशिगुप्त? एथेन्स के स्वतन्त्र नागरिक को तुम दास बना रहे हो। अलिकसुन्दर ने सबके साथ समानता की शपथ ली थी। सुन रहे हो?

शशिगुप्त—हाँ···हाँ···सुन रहा हूँ। द्वन्द्व की कला महाराज पुरु को दिखाई होती! तब तो तुम्हारे मन में भूकम्प आ गया।

विष्णुगुप्त—शील और धर्म में जो समान न हो···उससे भला··· **(मन्द स्वर में)**।

टिथोनस—**(क्रोध में)** क्या-क्या? फिर कहो मैं भी सुन लूं।

विष्णुगुप्त—नखवालों से, सींगवालों से और शस्त्रवालों से मैं नहीं उलझता। नहीं जा रहे हो न तुम? तो फिर सुन लो, अंग-अंग कट जाने

पर भी कालनेमि काल है। इसी चाल से वह वितस्ता की धार से सिन्धु की धार में पहुँच जायगा और किसी किनारे जो वहाँ भी सन्देह मिला उसे तो वह सिन्धु की धार से समुद्र में भी उतर पड़ेगा। कोस भर जो हाथी इसी क्रम से जल में चलता रहा तो फिर दोनों किनारे ऐसे बन पड़ेंगे जिनमें मनुष्य का मार्ग नहीं है। लौटा लो अपने सैनिकों को······ लौट जाओ शिविर में।

सिल्यूकस—मान लो बात टिथोनस ! महाराज पुरु इस समय विजयी के शत्रु नहीं हैं। अपने हाथ रोपे पेड़ को कोई नहीं काटता। न विश्वास हो तो देखो हाथी की ओर···जिसकी पूरी देह जल में डूब गई है, अंगुल भर सूंड जब-तब दिखाई पड़ती है, जब वह ऊपर पानी फेंकता है। महाराज पुरु के कण्ठ तक जल आ गया है फिर भी वह विजयी को ऊपर उठाये हैं। फेंक दें जल में तो तुम क्या करोगे और यहाँ से तुम्हारे सैनिक क्या करेंगे ?

टिथोनस—तैरकर···

विष्णुगुप्त—तब तक बीच से चीरकर हाथी दो खण्ड कर देगा।

सिल्यूकस—क्या हो गया है टिथोनस तुम्हें ?

टिथोनस—तुम भी चलो मेरे साथ।

विष्णुगुप्त—ऐं······एक साथ इतने शंख कहाँ बज उठे ? **(नेपथ्य में कितने शंख बज उठते हैं)** हूँ···तो अब मुझे भी जाना पड़ा। केकय मण्डल के तरुण और अधेड़ कौन जाने वृद्ध भी हों···

शशिगुप्त—**(विस्मय में)** आचार्य !

विष्णुगुप्त—हाँ भद्र ! दस कोस के गाँवों में अपने हाथ अग्नि दाह कर देवियों को चन्द्रभागा की ओर भेजकर चले आ रहे हैं। उमंग में, **(पश्चिम की ओर हाथ घुमाते हुए)** काले हाथी मेघमाला बन गए हैं, घोड़े और रथ, वायु, शंख की ध्वनि, बिजली की कड़क ! यवन सैनिकों से टक्कर होने के पहले मुझे वहाँ पहुँच जाना है। आसन मारकर अध्ययन और अध्यापन से दौड़ने की शक्ति तो चली गई फिर भी मनोबल

से .... चलो भद्र ! तुम मेरे साथ, सिल्यूकस अपने सैनिकों के आगे पहुँचकर उन्हें इधर फेरे शिविर की ओर।

शशिगुप्त—इन यवन सैनिकों से (**हाथ उठाकर**) दो अश्व ले लें हम और जितना सम्भव हो आगे बढ़कर उन्हें रोकें।

[**विष्णुगुप्त तथा शशिगुप्त का पूर्व की ओर और सिल्यूकस तथा टिथोनस का दक्षिण की ओर प्रस्थान।**]

आम्भी—संसार में सबके लिए कार्य है। केवल मैं हूँ जिसे कुछ नहीं करना है। वितस्ता की लहरों में डूब मरना भी नहीं, वह भी आत्मघात होगा। ऋषियों द्वारा निर्धारित पापों में सबसे बड़ा पाप।

[**पुरुष वेश में तारा का प्रवेश। सुनहले उष्णीश का छोर पीठ पर हिल रहा है। कानों में कुण्डल, कटिबन्ध में असि और हाथ में भल्ल।**]

तारा—(**मन्द स्वर में**) अरे ! यह तो महाराज आम्भी है। (**ऊंचे स्वर में**) और लोग कहाँ गये ?

आम्भी—(**विस्मय में उसे देखकर**) तुम्हारा जन्म किस देश में हुआ है प्रियदर्शन ? किसे खोज रहे हो ? दोनों पक्ष के सैनिक सब ओर फैले हैं। कैसे आ गये तुम यहाँ युद्धभूमि पार कर ? बोलो ?

तारा—एक सांस में आप क्या-क्या पूछ गये ! किस-किस का उत्तर दूं ? और लीजिए, मुझे तो सब भूल गया ! (**मन्द मुसकान**)।

आम्भी—तुम डरे नहीं यहाँ आने में ?

तारा—क्यों, यहाँ क्या है ?

आम्भी—(**विस्मय में**) तुम नहीं जानते पुरु और विजयी यवन का युद्ध यहाँ होता रहा है ? बड़े निडर हो तुम, फूल से भी सुकुमार शरीर लेकर तुम यहाँ आ गये, बड़े-से-बड़े वीर का साहस यहाँ आने में छूट जायगा ?

तारा—अच्छा मुझे क्या पता ? (**अधर और कपोल में**

मुसकान नाच उठती है)।

आम्भी—तुम आ कहाँ से रहे हो ? पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्खिन, सैकड़ों कोस के लोग जानते हैं यह बात और तुम ? (**विस्मय में एकटक उसकी ओर देखता रहता है**)।

तारा—आपकी आँखों में पानी भर आया है। पलक गिराइये। एकटक देखने का काम बूढ़ों का नहीं है। इसकी भी अवस्था होती है महाराज ! (**दोनों हाथ जोड़कर नीचे झुकती है**)।

आम्भी—अच्छा, तो तुम मुझे जानते भी हो ? (**विस्मय की मुद्रा**)।

तारा—मेरी तरह आप भी मनुष्य हैं। मेरे जन्म की दुर्घटना कहीं हुई और यही बात आपके लिए भी कहीं हुई होगी।

आम्भी—देखो किशोर ! तुम मुझे भ्रम में डाल रहे हो। मेरी किसी बात का उत्तर न देकर तुम दाएँ-बाएँ बहके जा रहे हो। कहाँ रहते हो तुम ··· यहाँ किस लिए आये ? सब ओर तुम उत्सुक होकर देख रहे हो जैसे तुम्हारा कोई प्रिय यहाँ खो गया है।

तारा—मेरी अवस्था में सीधी राह कौन चलता है श्रीमान् ! बहकने का समय है यह, इस अवस्थावालों के विषय में आप जैसे बड़े-बूढ़ों की यही राय होती है। मेरी अवस्था जब आपकी हो जायगी तो बहकने का दम नहीं रहेगा, तब आनेवाली पीढ़ी के लिए मेरी भी यही राय होगी।

आम्भी—(**हताश होकर**) इस बार भी मेरे किसी प्रश्न का उत्तर तुमने नहीं दिया।

तारा—यह अवस्था महापुरुषों की बात सुनने की नहीं होती। इस समय कान बन्द रहते हैं। मेरी प्रकृति का दोष है यह। आपकी प्रकृति भी कभी ऐसी रही होगी। स्मरण कीजिए।

आम्भी—तब तुम मेरी किसी बात का उत्तर न दोगे ? यही न ?

तारा—ऐसा कोई हठ नहीं है मेरा। एक साथ कई बातें न पूछें। कई बातें एक साथ सुनने पर आँखों में इन्द्र-धनुष बन जाता है।

आम्भी—(**हँसकर**) हा ··· हा···हा···! इधर देखो।

तारा—जी, बड़े की आँख से आँख नहीं लगाते।

आम्भी—तुम मुझे विक्षिप्त कर दोगे किशोर !

तारा—(**एक ओर बढ़ते हुए**) तब मुझे यहाँ से हट जाना है।

आम्भी—(**विवश होकर**) रुको ·····सुनो तुम्हारा····· (**आगे बढ़कर उसे रोकते हुए, तारा मुड़कर वितस्ता की कगार तक पहुँच जाती है**)।

आम्भी—अरे ! सीधी खड़ी कगार है वहाँ····· गिर न पड़ना··· अरे · अरे ··(**भय से ऊँची साँस लेने लगता है**)।

तारा—(**नदी के बहाव की ओर देखती हुई**) इस कगार से कितने गिरे होंगे··· · वितस्ता की लहरों ने देखा होगा उन्हें ···आज मेरा गिरना भी जो ये देख लें···

आम्भी—(**कातर स्वर में**) हाय ! हाय ! ऐसी अशुभ बात प्रिय-दर्शन ! तुम्हारे माता-पिता नहीं हैं ?

तारा—(**मन्द हँसी**) जी नहीं····· मेरा कोई नहीं है।

आम्भी—(**विह्वल होकर**) कोई नहीं ·····? (**एकटक उसकी ओर देखता हुआ उसकी ओर बढ़ता है**)।

तारा—रुकें, वहीं······एक पग जो आपका बढ़ा तो यहाँ से मुझे सीधे नीचे गिरना होगा······तीस हाथ नीचे, इस पथरीली धरती पर······दस डग हटकर पीछे खड़े हों महाराज ! जो मुझे जीवित देखना चाहते हों।

आम्भी—(**पीछे हटता हुआ**) अच्छा······अच्छा! ···जो कहो। यह कैसे जानते हो कि मैं महाराज हूँ ?

तारा—आपके सिर के मुकुट से, मुकुट और कटिबन्ध दोनों पर राजचिन्ह एक ही है।

आम्भी—तुम्हारा जन्म किस देश में हुआ था पुत्र !

तारा—अब वह देश नहीं है।

आम्भी—लो, फिर वही उल्टी बातें ··

तारा—भूकम्प में वह देश धरती के नीचे चला गया। कभी नहीं सुना है आपने, शेषनाग के करवट लेने पर धरती कहीं धँस जाती है और कहीं ऊपर उठ जाती है ? **(नदी के बहाव की ओर देखती है)।**

आम्भी—क्या देख रहे हो किशोर…?

तारा—**(बाएँ हाथ में भल्ल लेकर दायाँ हाथ उठाकर)** वहाँ कोई हाथी है पानी में, काले मेघ का कोई खण्ड जैसे आकाश से नदी में गिर पड़ा हो।

आम्भी—महाराज पुरु का हाथी है वह, कालनेमि…यवन सैनिकों के बाणों से छिदकर वह दोनों शत्रुओं को लेकर पानी में भाग गया है।

तारा—दोनों शत्रुओं को…?

आम्भी—हाँ, प्रियदर्शन ! पुरु और…दोनों उसी पर हैं।

तारा—बर्बर यवन कैसे गया उस हाथी पर…?

आम्भी—भाग्य इसे कहते हैं वत्स ! हाथी की झपेट में यवन विजयी आ गया। कालनेमि की सूँड में लिपटकर वह ज्यों ही ऊपर उठा और हाथी ने उसे पूरे बल से धरती पर पटकने को सिर हिलाया कि केकय ने अंकुश मारकर हाथी को विवश कर दिया उसे ऊपर उठाकर अपनी पीठ पर रख देने के लिए।

तारा—ऐसे शत्रु पर दया ? ऐसे शत्रु पर, जिसे मिस्र के ग्रंथों और पारस की मूर्तियों पर दया न आई ! जिसकी आँखों के सामने बालक, वृद्ध और नारियों का वध हुआ ? नहीं फूटा विष का यह घट इतने पर भी ? **(दाँत से होंठ चबाने लगती है)।**

आम्भी—आज के युद्ध में पुरु साक्षात् काल बन गये थे, फिर भी शत्रु पर भी दया कर अपने धर्म को वह हिमालय से भी विशाल कर गये।

तारा—पुरु के इस धर्म से अब धरती जलेगी……जलेगी…… कह देती हूँ मैं, जलेगी !

आम्भी—**(विस्मय में)** तो तुम किशोर नहीं हो…यही तो…किशोरी हो तुम……किस लिए तुम्हारा यह छद्म वेष है ? पतला ललाट, नील

कमल-सी आँखें, पिंगल केश, नासिका, होंठ एक भी पुरुष का नहीं है। **(विष्णुगुप्त का प्रवेश)** आचार्य ! यह कन्या किस देश की है ? केकय, गान्धार या अभिसार में इसका जन्म नही हुआ, फिर यह कहाँ से आ गई ?

तारा—ऊपर से चू पड़ी महाराज ! चन्द्रलोक से, अपनी आँखों की औषधि कीजिए।

विष्णुगुप्त—**(तारा की ओर देखते हुए)** आपको भ्रम हो रहा है राजन् ! तक्षशिला में इस स्नातक को आपने देखा होगा।

आम्भी—**(पश्चिमी क्षितिज की ओर संकेत कर)** सूर्य के रहते आप कहें इस समय रात है तो मैं मान लूंगा, पर यह पुरुष है यह नही मानता।

विष्णुगुप्त—**(मन्द हँसी)** पूछ लीजिएगा राजकुमार भद्रबाहु से। वे जानते है इसे। मित्रता के बन्धन में दोनो बँध भी चुके है।

आम्भी—**(आनन्द में)** सच कह रहे हैं आचार्य ! तब यह देवकन्या मेरी पुत्रवधू होगी ?

[तारा मुँह फेरकर खड़ी होती है]

विष्णुगुप्त—**(होंठ पर उंगुली रखकर आम्भी को चुप रहने का और फिर वहाँ से हट जाने का संकेत करता है। आम्भी विस्मय में दक्षिण की ओर निकल जाता है)** राजकुमारी !

तारा—आँ · हाँ·· आप मेरा नाम ले रहे हैं।

विष्णुगुप्त—गान्धार-नरेश ने अपनी भावी पुत्रवधू को देख लिया, क्यों ?

तारा—**(मन्द हँसी)** मैं इस खड़ी कगार पर खड़ी हुई तो जैसे महाराज रोने-रोने से हो गये।

विष्णुगुप्त—आनेवाली बात मन पहले ही जान जाता है, राजकुमारी !

तारा—**(संकोच में नीचे देखती हुई)** जी···

विष्णुगुप्त—महाराज आम्भी तुम्हें कैसे लगे ? **(विनोद की मुद्रा)**।

तारा—नवनीत-से······थोड़ी आँच में पिघल जानेवाले। मेरा उनसे कभी का परिचय नहीं। राह का रोड़ा भर हो सकती हूँ मैं। फिर

भी मैं नीचे गिर न पड़ूँ, यह सोचकर वह कातर हो उठे, उनकी आँखें भर आईं।

विष्णुगुप्त—होनी का आभास जो है उन्हें। अपनी भावी पुत्रवधू के स्नेह में वह कातर हो उठे।

तारा—हूँ···तब मैं जा रही हूँ।

विष्णुगुप्त—(**नदी की धार की ओर देखकर**) देखो कालनेमि लौट रहा है इधर···किनारे से राजकुमार भद्रबाहु की बोली और पीठ पर महाराज पुरु की बोली पहचानकर अब वह आश्वस्त हो चुका है। यवन सैनिकों के पीतलवाले चमचमाते टोप उसे अब नहीं दिखाई पड़ते। देख रही हो (**हाथ उठाकर**) वहाँ किनारे-किनारे राजकुमार और धार के बीच में हाथी चले आ रहे हैं।

तारा—यवन सैनिक कहाँ हैं?

विष्णुगुप्त—और सब लौट गये शिविर में। केवल दो (**हाथ उठाकर**) वृक्षों के उस झुरमुट में ठहर गये हैं। हाथी से विजयी यवन के उतरने पर यहीं आ जायँगे।

तारा—कौन-कौन हैं?

विष्णुगुप्त—अरे! हाँ, तुम तो सबको जानती हो। सिल्यूकस और टिथोनस···

तारा—(**ऊँची साँस लेकर**) कुशल है तालेमी नहीं है। उसे देखते ही ज्वर चढ़ने लगता है मुझे।

विष्णुगुप्त—उस पर तो स्वयं ज्वर चढ़ रहा है। उस पार के यवन स्कन्धावार में वह पिछले कई दिनों से ज्वर में गिरा है।

तारा—मर जाता अभागा। देवता बस यही इतना कर देते।

विष्णुगुप्त—बड़ी राजकुमारी उसकी सेवा में हैं···आर्त्तकामा··· थोड़ी देर के लिए भी जो वह उसके निकट नहीं रहतीं प्रलाप करने लगता है वह।

तारा—अपना-अपना भाग्य। लोलुप यवन की सेना में दीदी हैं,

जिसकी दासियाँ सौ से भी ऊपर थीं।

विष्णुगुप्त—दासियाँ दस-पाँच यहाँ भी हैं। राजकुमारी के प्रेम का ही ज्वर उन पर चढ़ा है, इसलिए वे ही उसकी औषध भी बनी हैं।

तारा—हूँ····· मुझे नहीं सुनना है, रहने दें······(**संकोच और विवश लज्जा की मुद्रा**)।

विष्णुगुप्त—ताया देवी ने नहीं कहा तुमसे······? (**आश्वस्त करने वाला स्वर**)।

तारा—नहीं···तो···कह रही थीं·· **चकित-सी**)।

विष्णुगुप्त—क्या···?

तारा—हम दोनों से ताया के साथ यहाँ आकर दीदी एक बार भेंट करेंगी।

विष्णुगुप्त—ताया ने तुम दोनों बहनों को पहले नहीं पहचाना ?'

तारा—(**मन्द हँसी**) जी नहीं ·····हमारे नये ढंग के वस्त्र, आँखों का काजल, मुख पर ताम्बूल और केश के जूड़े को पहले जो देखा नहीं था। आपने परिचय कराकर ताया का इन्द्रजाल मिटा दिया। दीदी अब तक यही जानती है कि हम दोनों वितस्ता में डूब मरीं।

विष्णुगुप्त—तुम दोनों को देखकर उनका मन शीतल हो जायगा। एक बार फिर साथ खेलने का अवसर मिलेगा।

तारा—वह अवसर····· पारसपुर में ··· हमारे राजभवन की अग्नि में जल गया। कोई बात नहीं आचार्य ! एक साथ जन्म लेकर भी कन्यायें अलग होती हैं (**ललाट पर हाथ फेरकर**) जन्म के समय विधाता यहीं टाँकी जो मार देता है।

विष्णुगुप्त—हाथी किनारे लग रहा है। यहाँ ऊपर चढ़ने का मार्ग नहीं है। चल रहा हूँ मैं वहीं महाराज और यवन को उतारने। राजकुमार भद्रबाहु के साथ तुम चली जाना और ताया देवी को यहीं लिवा लाना।

तारा—यहीं ?

विष्णुगुप्त—हाँ, कह देना आचार्य का यही आग्रह है।

तारा—जी···अच्छा···

विष्णुगुप्त—रजनी को भी···

तारा—वह नहीं आयेगी। युवराज चोट की पीड़ा मारकर हँस रहे हैं उसके लिए, नहीं तो वह रोकर प्राण दे दे। पता नहीं रोहिणी देवी कब तक लौट आयेंगी।

विष्णुगुप्त—कल संध्या तक। तुम हठपूर्वक रह न गई होतीं तो यहाँ युवराज पर क्या बीतती ?

तारा—महादेवी रोहिणी और रजनी का अन्तर चन्द्रमा और नक्षत्र का अन्तर है। उनके सहारे युवराज को नींद आती···पर यह फुलझड़ी हर समय जो टपकने लगती है। रजनी की चिन्ता में उन्हें विश्राम नहीं मिल रहा है। ताया का ठीक इस अवसर पर आ जाना अच्छा हुआ। युवराज और उनकी प्रेमिका दोनों को वह सँभाल रही है। मुझे तो सन्देह है इस समय वे यहाँ आना चाहेंगी।

विष्णुगुप्त—विजयी यवन से दूर उनकी भी वही दशा होगी जो इस समय रजनी की है या जो···

तारा—(**दोनों कानों में उँगली डालकर**) कुछ न कहिएगा अब··· मेरे हठपूर्वक रह जाने का कारण आप जानते हैं, फिर उसे कह देने से क्या भला··

विष्णुगुप्त—अच्छा···अच्छा···(**आगे बढ़ते हुए**) वहीं रोक लें महाराज ! इधर कगार सीधी खड़ी है।

[**विष्णुगुप्त का प्रस्थान**]

तारा—(**उत्सुक मुद्रा में उधर देखती हुई**) चढ़ आये कोई इस खड़ी कगार पर···

भद्रबाहु—(**नीचे से**) वह कोई बन्दर होगा। (**दक्षिण से हँसते हुए प्रवेश कर**) इस वेश में। (**मुसकराकर सिर हिलाता है**)।

तारा—महादेवी रोहिणी की भाँति मैं भी भाग गई होती तो···

भद्रबाहु—तो क्या होता···वितस्ता का जल सूख जाता क्या ?

तारा—हाँ · अपने प्राण के भय से भाग जाती मैं किसी को छोड़कर · जिन चरणों को छूकर इस रेती में फूल खिल रहे हैं··· उनसे अलग होकर···न सूखती वितस्ता, पर यह (**हृदय पर हाथ रखकर**) ऐसा सूखता कि इसमें दरार पड़ जातीं।

भद्रबाहु—भौंह के, आँखों के ·

तारा—यही अवसर है यह सब कहने का···

भद्रबाहु—शस्त्रों की वर्षा सह लेने के बाद मन की कामना कुछ दूसरी होती है। एक साथ इतने अमोघ शस्त्र जिसे प्रकृति से मिले··· भला इस असि और भल्ल से उसे कौन-सा समर जीतना है ? किस लिए यह पुरुष का वेश बनाया गया, सुनूँ भी ··

तारा—इतना कार्य कर रहा हूँ मैं···

भद्रबाहु—ओ ! हो !···इस वेश के कारण राजकुमारी तारा तारापति हैं · क्यों ? किसके दूत बने हैं श्रीमान् ··(**मन्द हँसी**)।

तारा—अविवाहित के लिए श्रीमान् शब्द का प्रयोग नहीं होता। चाहे तो कोई मुझे कुमार कह ले।

भद्रबाहु—अच्छी बात है। तो फिर कहें कुमार तारापति, आप किस के दूत हैं ?

तारा—यवन विजयी की नकेल जिन हाथों में है, समझ रहे हैं श्रीमान्···

भद्रबाहु—हूँ, तो जैसे मेरा विवाह हो चुका है।

तारा—जी··हाँ···

भद्रबाहु—नारी जन्म के साथ असत् का भी जन्म होता है। इसलिए वह हर साँस में शपथ लेती है, जानकर कि वह झूठी शपथ ले रही है··· फिर भी उसका हृदय विद्रोह नहीं करता।

तारा—नहीं करता विद्रोह ? किसके हृदय में धड़कन अधिक होती है ? पुरुष के कि नारी के···

भद्रबाहु—अरे! आ रहे हैं सब इधर। चुप रहो ! कहीं अलिकसुन्दर तुम्हें इस वेश में पहचान जाय ! और उसका कोई सेनापति फिर तुम्हारे लिए मचल उठे ?

तारा—तब तुम चूड़ियाँ पहन लेना । आचार्य ने तुमसे कुछ नहीं कहा ?

भद्रबाहु—ऐं···क्या···अरे हाँ ! विलासिनी ताया को यहीं ले आने को तुम्हारे साथ ?

तारा—फिर यह बात तुम्हें भूल कैसे गई ?

भद्रबाहु—तुम्हें देखकर···अकेली तुम्हें······तब सब कुछ भूल जाता है ।

तारा—सब और···और कहो ।

भद्रबाहु—अच्छा लग रहा है यह सुनना ?

तारा—अपनी शक्ति और यश का बखान किसे नहीं रुचता ? मुझे देखकर सब भूल जानेवाले···और तुम अपने को पुरुष कहते हो । सिंह से निरस्त्र लड़नेवाले···

भद्रबाहु—सिंह की वीरता भी उसकी प्रिया के सामने काम नहीं आती । उस आदिपुरुष से भी यही भूल हुई थी··· अपनी योगमाया को देखकर······

तारा—वह भी भूल गया था······**(चारों ओर हाथ घुमाकर)** उसी भूल का फल यह सारी सृष्टि है ।

विष्णुगुप्त—**(नेपथ्य में)** कुमार भद्रबाहु !

तारा—चलो भी जल्दी·· नहीं तो चोरी पकड़ी जायगी ।

भद्रबाहु—जा रहा हूँ आचार्य ! कहाँ सुन्दरी है वह अन्तिओक की ?

तारा—राजभवन के दक्षिण भूगर्भ गृह में······

भद्रबाहु—**(तारा के साथ जाते-जाते)** तब तो सुरंग से जाना पड़ेगा ।

तारा— **(जाते-जाते)** आगे-आगे मैं रहूँगी ।

भद्रबाहु—(**नेपथ्य में**) ज्योतिशिखा-सी···अरुण के आगे ऊषा की तरह···

[**नेपथ्य में दोनों की हँसी**]

पुरु—(**नेपथ्य में**) इधर से विजयी···

अलिकसुन्दर—लज्जित न करें मुझे महाराज !

[**पुरु, अलिकसुन्दर और शशिगुप्त का प्रवेश**]

पुरु—जब से यह पृथ्वी है, किस दूसरे के चरण पड़े इस पर जिसने एक साथ इतने देशों की विजय की ?

अलिकसुन्दर—यह विजय मेरी नहीं, मेरे (**हृदय पर हाथ रखकर**) भीतर के उस अहंकार की, उस दानव की रही है जिसके सुख के लिए मैं यहाँ तक पहुँच गया । क्षण भर की तृप्ति के लिए कितने वर्ष बीत गये, कितने वसन्त, कितने ग्रीष्म, कितने पावस और शीत मैं उसके संकेत पर भागा फिरा हूँ ? अरिस्तातल की विद्या के लिए जो कुछ मैं भेज सका बस वही उतना मेरा है । हाथी की सूंड से मुझे छुड़ाना न था ।

पुरु—क्या कह रहे हो ? अपनी आँखों के सामने तुम्हारी मृत्यु देखता ?

अलिकसुन्दर—मेरे भीतर के दानव की मृत्यु होती वह, जो समूचे जगत् का अधिकारदण्ड मेरे हाथों में देकर, सबके सुख, दुःख, चिन्ता और शासन का भार मुझ अकेले पर लाद देता । आचार्य कहाँ रह गये ?

पुरु—राजकुमार भद्रबाहु से कहने गये ।

अलिकसुन्दर—ताया को यहीं ले आने के लिए ? (**ऊँची साँस लेता है**) ।

पुरु—डरो मत ! तुम्हारी प्रिया का अपहार करनेवाला इस भूमि में नहीं है ।

अलिकसुन्दर—ले चलो मुझे वहीं···

पुरु—वीर पुरुष हो तुम······(**उसकी ओर एकटक देखते हैं**) ।

अलिकसुन्दर—आपकी दृष्टि मेरे भीतर गहरे नीचे धँसी जा रही

है···ना···ऐसे न देखें।

शशिगुप्त—महाराज देख रहे हैं कि विजयी के हृदय में प्रधान कामना विश्वविजय की है या सुन्दरी ताया के अनुराग की।

अलिकसुन्दर—(**मन्द हँसी**) संसार के पर्वत सोने के बन जायँ······ समुद्र की सारी रेत मरिण और मोती बनें, पेड़-पल्लव नीलम की लतायें हों, धरती का सारा जल अमृत बने, मिट्टी का कहीं नाम न रहे, सब कुछ सोने में बदल जाय···यह सब एक ओर और वह एक ओर···फिर भी···

पुरु—तुम्हारी प्रधान कामना वही रहेगी।

अलिकसुन्दर—जी···

पुरु—तब तुम अधिक नहीं बिगड़े···

अलिकसुन्दर—(**न समझकर उत्सुक मुद्रा में**) क्या, हाँ···

पुरु—यही कि तुम अभी अधिक नहीं बिगड़े। तुम्हारी इस बीस-बाईस की आयु की स्वाभाविक कामना सुन्दरी का अनुराग है जो तभी सम्भव है जब यह धरती मिट्टी की रहे। सोने की पृथ्वी पर जीवधारी नहीं रहेंगे। अनुराग जीव का धर्म है।

अलिकसुन्दर—मुझे वहीं ले चलें।

पुरु—कहाँ ?

अलिकसुन्दर—उसके निकट···बस जहाँ हो। (**कातर दृष्टि से देखता है**)।

पुरु—मैं नहीं जानता कि वह कहाँ है।

अलिकसुन्दर—आप नहीं जानते ? फिर आपने मेरे प्राण क्यों बचाये ? (**कातर हो उठता है**)।

पुरु—तुम्हारा प्राण अपने लिए मैंने बचाया। रुद्रदत्त या भद्रबाहु में मेरा जो आकर्षण है, कालनेमि की सूंड में विवश देखकर मेरे भीतर वही उमँग उठा। तुम्हें बचाकर मैंने अपने पुत्र की रक्षा की···मेरी दया नहीं थी यह विजयी ! मेरी विवशता थी ! अपने पुत्र के जीवन की

कामना मेरी तभी होगी जब मैं उसकी अवस्था के किसी भी तरुण के जीवन की कामना करूँ।

अलिकसुन्दर—(**विस्मय में**) क्या···क्या शत्रु के जीवन की भी ? (**उद्विग्न हो उठता है**)।

पुरु—प्रकृति के धर्म में शत्रु और मित्र का विचार हम नहीं करते।

अलिकसुन्दर—विश्वास नहीं हो रहा है मुझे···

पुरु— इसलिए कि यवन जाति को छोड़कर भूमण्डल के अन्य निवासी तुम्हारे लिए केवल शत्रु रहे हैं। मित्रभाव तुम्हारा केवल अपने लिए, केवल अपनी जाति के लिए रहा है, औरों के लिए नहीं। हम युद्ध करते हैं कर्मभाव से; शत्रुभाव वहाँ भी नहीं होता।

अलिकसुन्दर—आप जानते हैं·····मेरी वह··· (**संकोच की मुद्रा**)।

पुरु—(**हँसकर**) हा हा···इन कातर आँखों से देखकर तुम मुझे भी अधीर कर रहे हो। मान लूँ मैं फिर कि तुम्हारी स्वाभाविक कामना सुन्दरी ताया है, जिसे गढ़कर विधाता ने अन्य सुन्दरियों को दरिद्र कर दिया ! क्यों ? (**उसके हृदय के आवरण को हटाकर देखनेवाली दृष्टि**)।

अलिकसुन्दर—ओह ! चक्कर आ रहा है मुझे। ठीक है मेरी रक्षा में आपकी दया नहीं थी, सब ओर से दरिद्र सब ओर से असहाय देखना था मुझे।

शशिगुप्त—अनुराग की गहराई वियोग में देखी जाती है।

अलिकसुन्दर—महाराज पुरु वही देख रहे हैं ?

पुरु—नहीं जी, वह समय अब मेरा नहीं है; तुम्हारे लिए, अपने पुत्र के लिए, तुम्हारी अवस्था के किसी तरुण के लिए; मेरे जैसे को वह मार्ग छोड़कर हट जाना है।

अलिकसुन्दर—उस दिन वितस्ता की मध्य धार में आप उसी को अधिक देखते रहे···

पुरु—अरे ! तब कहो अपने लिए मैंने उसका हरण कराया है।

अलिकसुन्दर—कौन जाने ?

पुरु—तुम जान लो यह बौने का चन्द्रमा छूना होगा। (**मन्द हँसी**) उस चन्द्र के सामने मैं बौना हूँ। और फिर जिस नारी में पुत्र की कामना न हो उसे हम ज्वाला मानते हैं। समूचे केकय में कोई तरुण ऐसा नहीं है, जो उसे उस आँख से देखना चाहेगा।

अलिकसुन्दर—आपके युवराज ?

पुरु—कह दिया नारी के प्रति हमारा अनुराग पुत्र के फल के लिए होता है। वह पुत्र जिसे कुलदेव, पितृदेव और अग्निदेव की उपासना का अधिकार हो ! ताया के पुत्र को वह अधिकार न होगा।

अलिकसुन्दर—आप उसे हीन मानते हैं ?

पुरु—मेरे हीन मानने का प्रश्न नहीं है भद्र ! मेरी पितर परम्परा हीन मानती है उसे। उसके साथ धर्म का कोई कार्य नहीं किया जा सकेगा। अग्निहोत्र से लेकर पुत्र की उत्पत्ति तक······निग्रह और परिग्रह कुछ नहीं।

शशिगुप्त—दृष्टिभेद है हमारा यह विजयी ! शरीर तृप्ति भर का आधार हम नारी को नहीं मानते। धर्म का आधार है वह हमारे लिए और कर्म की प्रेरणा भी वही है।

अलिकसुन्दर—कर्म की प्रेरणा तो हमारे लिए भी······ताया की ही प्रेरणा से मैं यहाँ तक आ पहुँचा।

पुरु—यही कारण था उस दिन जो मैं तुम्हारी सुन्दरी को देखता रहा। विलासिनी का रूप किस कर्म की प्रेरणा दे रहा है, यही देख रहा था मैं। ध्वंस के पख पर चढ़ाकर उसका रूप तुम्हें कब तक उड़ाता फिरेगा ? निर्माण में आसन मारकर बैठना होता है। उसके अनुराग का अमृत जो तुम्हें सचमुच मिला तो फिर तुम केवल ध्वंस क्यों करते रहे? अब तक निर्माण तुमसे कुछ भी नहीं हुआ है, यह तुम भी जानते हो तुम्हारे गुरु अरिस्तातल के पूर्व की जितनी विद्या थी, ज्ञान-विज्ञान, कला-कौशल प्राचीन जगत् का जो कुछ था, मिस्र और पारस के अग्निकाण्ड में

तुमने सब भस्म कर दिया ।

अलिकसुन्दर—सूझ रहा है मुझे अब······सच कह रहे हैं आप । मिस्र के ग्रन्थों में भी ज्ञान था और पारस की मूर्त्तियों में भी···

पुरु—कला थी । तुमसे पहले की, अरिस्तातल से पहले की, मानवता के हृदय और मेधा के अमूल्य रत्न थे वे । तुम्हारे नये के साथ वह पुराना भी बच गया होता तो मानवता और धनी रहती । तुम्हारी प्रथम कामना जब सुन्दरी ताया ही है, विश्व-विजय नहीं, तो तुम भी अभी वही हो जो तुम्हारी आयु का कोई भी दूसरा तरुण होता है । इसी के लिए पहले भी तरुण रक्त में डूबते आये जैसे वर्षों से इधर तुम डूबते रहे हो । और तो और, तुम्हारे सैनिकों का और तुम्हारा भी आहार-विहार अब वह नहीं है जो तुम्हारे अपने देश में था । दारयवहु का नाश करके भी तुम उसी की संस्कृति में ढल चुके हो । उसके चरणों पर जैसे एक साथ कितने राजमुकुट झुकते थे, उसके चरणों के नीचे की पाद-पीठिका जैसे उन मुकुटों के रत्नों से तड़प उठती थी, वही दशा आज तुम्हारी भी है । उसी की भाँति तुम भी अब अपने को देवता मानने लगे हो, अपने आश्रितों से अपनी पूजा करा रहे हो ।

अलिकसुन्दर—**(हाथ उठाकर)** नहीं, अब कुछ नहीं, रुक जाइये । **(अधीर हो उठता है)** ।

पुरु—तुम्हारी देह पर वे यवन वस्त्र नहीं हैं जो केवल कटि तक आते थे । पारसीक वस्त्र, रत्न, स्वर्ण और मुक्ताहारों से तुमने अपने और अपने यवन सैनिकों को अलंकृत किया है । तुम्हारी साँस से पारसीक सुरा की गन्ध निकल रही है । दारयवहु के शुद्धान्त की सुन्दरियों का लीला-विलास भी तुम देख रहे हो । पारसीक जीवन-पद्धति से यवन जीवन-पद्धति पराजित हुई है । तुम्हारे साथ के इतिहासकार चाहें इसे तुम्हारी विजय कहें ।

अलिकसुन्दर—**(वहीं धरती पर बैठकर)** तब मेरे गुरु ने सारे जगत् में यवन-पद्धति के प्रचार की प्रेरणा क्यों दी ?

पुरु—(खेद की हँसी) अहंकार के आवेग में। विद्या का धर्म विनय और बल का धर्म शील है। मेधावी अरिस्तातल यही इतना नहीं जानता। पारस मर गया पर उसकी पद्धति यवन-पद्धति को निगल गई। तुम्हारे सैनिक जो किसी दिन अपने घर लौटकर जायँगे, वहाँ पारस का विभव देखना चाहेंगे। यवनी किशोरियों के कण्ठ में पारसीक रत्नों की माला, उनके कपोलों पर पारसीक द्राक्षा का रंग, उनकी आँखों में वही चपलता और उनके अधरों में वही अनुरंजन। पर यह सब उस देश की प्रकृति में नहीं है। कोई दिन आयगा जब उस देश की भी वही गति होगी जो मिस्र और पारस की हुई, निषद, कम्बोज, गान्धार और इस केकय की हुई।

अलिकसुन्दर—यह सब सुनने से अच्छा था कि मैं हाथी की सूँड में पिस उठा होता।

पुरु—उससे भावी जगत् का कल्याण न होता। तुम्हारी जगह पर तालेमी, टिथोनस या क्रातेरस कोई बैठ जाता। शस्त्र से जो सम्भव नहीं उससे कहीं अधिक दया और शील से सम्भावित है। एक बार अपनी आँखों से मृत्यु देखकर, सम्भव है, मारने में अब तुम्हारे हाथ हिलें। यह न भी हो तो भी यह तुम न भूलोगे कि शत्रु के प्रति भी स्नेह और शील के अवसर होते हैं। आचार्य आ रहे हैं। वे जानते होंगे।

अलिकसुन्दर—क्या ?

पुरु—तुम्हारी प्रिया कहाँ है।

अलिकसुन्दर—आप नहीं जानते, कहते ही रहेंगे यह ?

पुरु—मैं नहीं जानता। तुम्हारी सुन्दरी का कोई प्रयोजन इस देश में नहीं है, यह मैं कह चुका हूँ। हमारी धरती जो रूप, रस और गन्ध देती है उसके आगे भरसक हम कामना भी नहीं करते। कहिए आचार्य ! विजयी की प्रिया कहाँ है ?

विष्णुगुप्त—(प्रवेश कर) आ रही हैं ताया देवी यहीं।

अलिकसुन्दर—कहाँ से······?

विष्णुगुप्त—महाराज के राजभवन के दक्षिण वन से

अलिकसुन्दर—क्यों महाराज ! आप नही जानते न ?

पुरु—सन्देह कभी नहीं पहुँचता सत्य के निकट भद्र ! मुझे कोई सूचना नहीं है······तुम्हारी सुन्दरी का हरण किसने किया और किस लिए किया।

विष्णुगुप्त—महाराज कुछ नहीं जानते विजयी ! इनके जान लेने पर यह कार्य हो नहीं पाता।

अलिकसुन्दर—अच्छा······(**विस्मय और उद्वेग की मुद्रा**)।

विष्णुगुप्त—हाँ······विश्वास करो······ताया देवी सब जान चुकी हैं। पूछ लेना उन्ही से।

अलिकसुन्दर—महाराज की आज्ञा बिना यह कार्य हुआ ?

विष्णुगुप्त—हाँ······महाराज अपने सैनिकों के स्वामी है। तक्षशिला के स्नातक अपने आचरण में इनसे स्वतन्त्र हैं। यवन बुद्धि का उत्तर बुद्धि से दिया गया। छल और कौशल हमारे स्नातकों ने तुम्हारे सैनिकों से सीखा···उसका यह पहला प्रयोग इस रूप में हुआ है।

अलिकसुन्दर—तब यह कार्य आपका है ?

विष्णुगुप्त—हाँ, मेरा है। जो बात मैं सोच भी नहीं सकता था··· स्नातकों की तरुण बुद्धि को वह सूझ गई। इस कार्य की पूरी योजना बनाकर केवल सूचना भर वे मुझे दे गये। एक लाख सेना से जो कार्य नहीं होता, कुल तीन स्नातकों की तरुण बुद्धि से हो गया। विजयी की प्रिया के हरण से उसकी विजय का सारा यश मिट गया।

अलिकसुन्दर—उसका अनादर किया गया होगा तब···

विष्णुगुप्त—इसका उत्तर वह स्वयं देंगी।

अलिकसुन्दर—कुल तीन थे वे····· पर सिल्यूकस को तो···

विष्णुगुप्त—इस कार्य की योजना बनाने में केवल तीन थे, पर जब यह कार्य किया गया उस समय उनकी संख्या तीस थी (**अलिकसुन्दर विस्मय और उद्वेग की मुद्रा में देखता है**) तुम्हें विस्मय हो रहा है

विजयी ! बुद्धि-कौशल में प्रवीण केवल यवन थे, ये दूसरे इसके अधिकारी कैसे बने ? तुम्हारे ही शस्त्रों का प्रयोग तुम्हारे विरुद्ध किया गया। क्यों यही बात है ?

अलिकसुन्दर—मैं कुछ और ही देख रहा हूँ। देख रहा हूँ अरिस्ता-तल और विष्णुगुप्त किसी दिन पश्चिम और पूर्व के दो प्रकाशस्तम्भ बनेंगे। इन दोनों के बीच में जगत् की सभ्यता का फिर से नया निर्माण होगा।

विष्णुगुप्त—किसी ऐसे पद की लालसा नहीं है मुझे भद्र ! इस देश की सभ्यता के मूल में वशिष्ठ और मनु का योग है, कितने ऐसे ऋषियों और राजर्षियो का, जिनके चरणों की धूलि का गौरव भी मुझ से अधिक है।

अलिकसुन्दर—आपका वचन भी ठीक होगा···

पुरु—और तुम्हारा भी प्रियदर्शन ! अरिस्तातल और विष्णुगुप्त, जगत् के दो छोर से उस मानवता को, जो मर चुकी है, फिर से जीवित करें, एक पर दूसरे का अंकुश रहे, किसी को इसका अहंकार न हो कि विद्या और ज्ञान का सत्य केवल उसकी मुट्ठी में बन्द है। चलूं देखूं युवराज की क्या दशा है ? युद्ध के रस में पुत्र का अनुराग मिट गया था।

विष्णुगुप्त—आपके पुण्य से सब कुशल है। ताया देवी चिकित्सक के साथ जुटकर उनका उपचार करती रही हैं। इस समय उन्हें नींद आ गई है। औषध के प्रभाव में दो पहर निरन्तर सोते रहेंगे वह।

अलिकसुन्दर—ताया महाराज के पुत्र का उपचार करती रही है ?

[ताया और तारा का प्रवेश। तारा अब भी पहले के पुरुष वेश में है।]

ताया—ईर्ष्या न करना विजयी ! उधर मैं युवराज की सेवा करती रही हूँ, इधर महाराज ने तुम्हें प्राणदान दिया है।

अलिकसुन्दर—**(गद्गद कण्ठ से)** तुम्हारा अनादर···

ताया—अरे जगत् का विजयी एक नारी के लिए इतना अधीर हो उठे ! आँखों की पुतली से भी प्रिय पुत्र के लिए महाराज उतने अधीर नहीं हैं, जितने तुम मेरे लिए हो रहे हो ।

अलिकसुन्दर—तुम्हारे अपमान के भाव से···

ताया—किसने किया अपमान और कहाँ······?

अलिकसुन्दर—तुम्हें जो हरकर ले गये ।

ताया—(**दोनों कानों पर हाथ रखकर**) न कहो······सुनना भी पाप है जिसका । इस देश के निवासी पराई स्त्री को माता मानते हैं । मेरी आँखों में सीधे किसी ने देखा तक नहीं । जितना डरते हैं ये अपनी माता भवानी से उतना ही मुझसे भी डरे हैं ।

अलिकसुन्दर—शब्द और संकेत से भी तुम्हारा अनादर किसी ने···

ताया—(**रोककर**) किसी ने नहीं । अपने सैनिकों का दोष इस धरती के पुरुषों में न देखो । (**पूर्व की ओर हाथ घुमाकर**) दस कोस की भूमि में कोई नारी नहीं है ।

अलिकसुन्दर—क्या ? कहाँ गईं वे ?

ताया—तुमसे, तुम्हारे सैनिकों के आचरण से, अपनी धर्म की रक्षा के लिए वे पहले ही अपने घरों से निकलकर पूर्व की ओर चल पड़ीं, तुम्हारे संसर्ग के दोष से बचने के लिए । जो कभी नहीं देखा, यहाँ आ कर देख चुकी ।

अलिकसुन्दर—तुम थक गई हो···

ताया—मेरी साँस फूल रही है । इस धरती में सब कहीं विस्मय है विजयी ! शत्रु के प्रति दया और नारी के प्रति आदर । तुम्हारे उस गुरु को भी इनसे सीखना है जिसने तुम्हें भेज दिया इस आखेट पर । हाँ··· हाँ···सच कह रही हूँ···तुम्हारी सेना आखेट करती रही है । लोगों को जीतकर दास बनाने की प्रथा यहाँ नहीं है । इनके धर्म का संस्कार यहाँ युद्ध में होता है ।

अलिकसुन्दर—(**मोती की माला और अँगूठी निकालकर**) यहीं (**किनारे की ओर हाथ उठाकर**) तुम्हारे केशबन्ध की माला और यह अँगूठी गिरी और मैं जान सका।

ताया—यहीं मुझे लेकर वे किनारे लगे थे। किसी-न-किसी यवन सैनिक को मेरी ये वस्तुएँ मिल जायँगी और मेरे जीवित रहने की सूचना का काम देंगी, इसलिए मैंने गिरा दिया।

अलिकसुन्दर—तुमने पुकारा क्यों नहीं······?

ताया—काली अँधेरी रात में, जब सारी धरती अन्धकार की चादर में ढक गई थी, तारे भी जिस समय बादल की आड़ में थे, किसे पुकारती मैं?

अलिकसुन्दर—(**दक्षिण की ओर हाथ उठाकर**) वहीं थे हम लोग।

ताया—जल में जिनकी गति ग्राह की और धरती पर सिंह की थी, उनसे छूटना तभी सम्भव था जब वे अपनी इच्छा से छोड़ते। मेरा न छूटना ही अच्छा हुआ, नहीं तो जो कुछ इन आँखों से देख चुकी, इस जीवन में फिर न देखती। अपोलो की इच्छा थी यह कि तुम्हारी सेना बच गई। तुम भी अभी जी रहे हो।

अलिकसुन्दर—तो तुम पर इन्द्रजाल किया गया है। हमारे सैनिकों का विक्रम इतनी दूर से देखती आ रही हो।

ताया—हाँ, पर उधर कहीं भी अपने धर्म के लिए देवियों ने प्रवास नहीं किया और न तो अपने हाथ अपने घर का अग्निदाह कर पुरुष अपने धर्म का संस्कार युद्ध में करने चले। केकय का एक-एक पुरुष सैनिक है। पारस की भाँति एक बार के युद्ध में न हारते। एक मरता तो उसकी जगह दो लेते, फिर चार, आठ और मुझे विश्वास हो गया है अब······तुम्हारी सेना युद्ध के इस समुद्र में सदा के लिए डूब जाती।

पुरु—छोड़ो इन बातों को सुन्दरी! सुना है युवराज की तुम सेवा करती रही हो?

ताया—भाग्य से यह अवसर मुझे मिला महाराज! घने वन में

पहाड़ी धरती के नीचे इतने निकट रहकर भी (**अलिकसुन्दर की ओर संकेत कर**) उनसे मैं इतनी दूर थी जितनी दूर चन्द्रमा है। हिंसक जीवों से डरकर जैसे लोग भागते हैं, दस कोस के भीतर की देवियाँ यवन सेना के डर से भाग गईं। यहाँ तक कि रानी रोहिणी भी····· पता नहीं इस समय वह कहाँ होंगी ? युवराज की आँखें उन्हें देखना चाहती हैं, कान उनकी वाणी के लिए अधीर हैं।

विष्णुगुप्त—इनके शस्त्रों से डरकर नहीं देवी !

ताया—तब किस डर से······?

विष्णुगुप्त—इनके आचरण के डर से······

ताया—सुन रहे हो विजयी ! तुम्हारे आचरण के डर से ! पर मुझे इन लोगों से भय का अवसर नहीं आया।

अलिकसुन्दर—हमने कहीं भी नारियों का प्राण नहीं लिया।

ताया—उससे भी महँगी वस्तु···

अलिकसुन्दर—क्या है वह·····?

ताया—नारी की देह की पवित्रता। तुम्हारे मलेच्छ यवन उनकी देह न छू दें; फिर वे अपने देवता के योग्य न रहेंगी।

अलिकसुन्दर—किस देवता के ?

ताया—अपने पति के। पति से बड़ा देवता इनका कोई नहीं होता। दूसरे पुरुष के संसर्ग से बड़ा पाप भी इनके लिए कोई दूसरा नहीं है। नारी के इसी भाव से यहाँ का एक पुरुष पारस के सौ पुरुषों के बराबर है। (**पुरु की ओर देखकर**) अब क्या होगा महाराज ?

पुरु—होनी होकर रहती है सुन्दरी ! इसकी चिन्ता हम नहीं करते। (**अलिकसुन्दर की ओर देखकर**) विजयी चाहें हमसे फिर युद्ध करें या लौट जायँ। जैसा व्यवहार वे करें मैं उसे सुख से स्वीकार करूँगा !

ताया—मरने-मारने की बात पुरुष बराबर क्यों करते हैं ? कुछ और क्यों नहीं सोचते ?

अलिकसुन्दर—मुझे अब आपसे युद्ध नहीं करना है। पहला जन्म

किसी पिता ने दिया था। यह दूसरा जन्म आपने दिया है। इस देश के किसी भी जन के लिए आप राजा हैं···मेरे लिए भी वही रहें।

आम्भी—(**प्रवेश कर**) इस सारे अनर्थ का कारण मैं हूँ और चुपचाप यह सब सुन रहा हूँ। केकय के संहार के लिए मैंने विजयी को निमन्त्रित किया था। आपकी मेघ गम्भीर वाणी और श्वेत गज से विशाल शरीर का आतंक मेरी ईर्ष्या का कारण बना। (**पुरु के सामने दोनों हाथ जोड़कर खड़ा होता है**)।

पुरु–(**आम्भी को खींचकर छाती से लगाते हुए**) करनेवाला दूसरा है भाई! हम वही करते हैं जो वह कराता है।

आम्भी—(**भरे कण्ठ से**) पुत्र भी जब अपना नहीं रहा। मेरी ओर देखना भी जब···उसका मारे घृणा और क्रोध के···(**दोनों हाथों में मुँह छिपाकर धरती पर बैठ जाता है**)।

पुरु—कुमार भद्रबाहु! देखो, अपने पिता को सम्हालो।

भद्रबाहु—(**प्रवेश कर**) जी·· किस पिता की बात आप कह रहे हैं?

पुरु—आदेश दे रहा हूँ मैं तुम्हें, महाराज आम्भी को उठाओ! इनके आचरण का न्याय तुम्हें नहीं करना है। समझ रहे हो, तुम पुत्र हो, और जब सब ओर से भूतनाथ ने कल्याण किया, युवराज रुद्रदत्त और यवनराज के प्राण जाकर बच गये, तो फिर यह इतनी गाँठ क्यों लगी रह जाय? खोल दो इसे भी। क्यों आचार्य?

विष्णुगुप्त—समुद्र की मर्यादा यही है····· पर्वत की मर्यादा यही है· प्रकृति से जो महान् है सब की यही मर्यादा है। (**भद्रबाहु आम्भी को उठाकर खड़ा करता है**)।

पुरु—सुन्दरी ताया के हरण की मर्यादा तो आप भूल गये। (**मन्द हँसी**)।

ताया—हा·· हा···हा···उससे बड़ी मर्यादा लिये मैं यहाँ खड़ी हूँ। (**तारा को अपने निकट खींचकर**) महाराज आम्भी की इस पुत्रवधू से

बढ़कर कोई दूसरी मर्यादा इस समय नहीं है।

आम्भी—(**विस्मय में**) कौन ···· कौन है यह ···तो पुरुष वेश में आचार्य अब भी मुझे भ्रम है ?

विष्णुगुप्त—(**हँसकर**) मेरे स्नातक का परिचय ताया देवी दे रही हैं आपको !

ताया—जी हाँ, तक्षशिला के यवन शिविर से पारस-नरेश दारयवहु की जो दो कुमारियाँ लुप्त हो गईं थीं उनमें बड़ी तारा है यह ! सपने में राजकुमार भद्रबाहु ने किसी रात इसका हृदय हर लिया था।

अलिकसुन्दर—यह काम जागने में भी कभी-कभी हो जाता है सुन्दरी !

ताया—पुरुष के लिए····· नारी के लिए यह बराबर सपने में होता है।

[**तारा और भद्रबाहु परस्पर देखकर नीचे देखने लगते हैं**]

अलिकसुन्दर—और वह दूसरी कहाँ है ?

ताया—यवनराज रुद्रदत्त के पैताने खड़ी होकर पंखा झल रही है। यही बात वहाँ भी है। उसे युवराज स्वीकार कर चुके हैं।

पुरु—सुन्दरी···(**चिन्ता और विस्मय की मुद्रा**)।

ताया—जी···

पुरु—मेरे कुल में बस एक पत्नी का विधान है।

ताया—इसका उत्तर आचार्य देंगे।

विष्णुगुप्त—युवराज से बराबर दूर रहकर·· स्फटिक शिला पर उनका चित्र बनाकर···उनकी कामना में कुछ ऐसी ही तपस्या वह भी करती रही है जैसी पार्वती की तपस्या चली थी शंकर के लिए। युवराज के चरणों को छोड़कर इस पृथ्वी पर अब उसकी गति दूसरी नहीं है। आपके कुल का विधान इस बार बदलेगा।

पुरु—और मेरे भवन की लक्ष्मी···

विष्णुगुप्त—विष्णु के चरणों में लक्ष्मी और माया दोनों को जगह

मिली है। राजकुमारी रजनी युवराज की माया रहेंगी। लक्ष्मी का स्थान उसे नहीं लेना है और महाराज ! विधान भी संस्कार चाहता है राजकुमारी को एक बार शरण देकर अब आप उसे विमुख कैसे करेंगे ?

ताया—अनुराग की रागिनी जहाँ एक बार बजी, बजती रहेगी। कब रुकी वह किसी के रोके ? महाराज ! (**आग्रह और आनन्द की मुद्रा**)।

पुरु—ऐं कुछ कहा तुमने देवी ! (**जैसे नींद से जाग पड़े हों**)।

ताया—इस कुमारी को आप अपने हाथ राजकुमार भद्रबाहु को सौंप दीजिये।

पुरु—ठीक तो है। इधर चलो राजकुमार !

ताया—(**तारा को पुरु के समीप ले आकर**) हाँ···इसका हाथ राजकुमार के हाथ में···

पुरु—(**तारा का हाथ भद्रबाहु के हाथ में देकर**) अब तो तुम्हारी कोई कामना नहीं है सुन्दरी ?

ताया—एक है···

पुरु—कह दो वह भी···

ताया—आपके युवराज के निकट हम सभी चलें। (**अलिकसुन्दर को संकेत कर**) तुम्हें भी चलना है विजयी ! महाराज आम्भी, आचार्य, जितने लोग यहाँ है सब, (**तारा और भद्रबाहु की ओर संकेत कर**) यह नया सारस का जोड़ा भी जो अब तक चन्द्रलोक में रहता आया। (**सब हँस पड़ते हैं**)।

अलिकसुन्दर—यही कहनेवाला था मैं, तब तक मेरे मुंह की बात तुमने छीन ली।

ताया—पुरुष हारकर यही कहता है। चलो वहाँ ···कुछ ऐसा हो कि मानवता के घाव पर शीतल विलेपन लगे और वितस्ता की लहरों में अनुराग का जल हो !

[**पर्दा गिरता है**]